एक युग : एक प्रतीक

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत—

- गिद्धा (१९३६)
- दीवा जले सारी रात (१९४१)
- मैं हूँ खाना-बदोश (१९४१)
- गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)
- Meet My People (१९४६)
- धरती गाती है (१९४८)
- धीरे बहो गंगा (१९४८)
- बेला फूले आधी रात (१९४८)

कविता—

- धरती दियां वाजां (१९४१)

कहानियाँ—

- कुंग-पोश (१९४१)
- नये देवता (१९४२)
- और बांसुरी बजती रही (१९४६)
- चट्टान से पूछ लो (१९४८)

एक युग : एक प्रतीक

देवेन्द्र सत्यार्थी

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के आमुख सहित

राजहंस प्रकाशन, दिल्ली

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को

आमुख

प्रिय सत्यार्थी जी,

आपने जो कठिन प्रश्न पूछे हैं उनसे मेरी बुद्धि-विद्या तो लोप ही हो गई है। सच मानिये अगर आप परीक्षक होते और मैं परीक्षार्थी होता तो मैं अपने अन्य मित्रों के साथ परीक्षा हाल छोड़ कर उठ गया होता और विश्वविद्यालय प्रश्नपत्र नहीं बदलवाता तो हड़ताल निश्चित थी। लेकिन सौभाग्यवश आप न परीक्षक हैं न मैं परीक्षार्थी। आपको यथेच्छ प्रश्न करने का अधिकार है और मुझे यथासम्भव चुप लगा जाने का। आजकल परीक्षक होना कोई हँसी-खेल नहीं है।

यह नीचे से ऊपर तक दूध की धारा के समान धवल ज्योत्स्ना झर रही है, आसमान इतना स्वच्छ है कि क्या बताऊँ। और आप सौन्दर्य-तत्व की चर्चा कराना चाहते हैं। सौंदर्य ही क्या काफी नहीं है, सौंदर्य के पीछे का रहस्य क्या इतनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है कि इस सुन्दर चांदनी में बैठ कर मनुष्य 'न नु'—उच्यते का जप करने लगे? ऐसी ही तारावली खचित रात्रि को एक बार कालिदास ने देखा था। एक बार क्या रोज ही देखते होंगे। वे दिल्ली में थोड़े ही रहते थे? उन्होंने देखा था कि रात रोज बढ़ रही है, ज्योत्स्ना रोज निखर रही है, मेघों का घूंघट हट जाने से चन्द्रमा दिन-दिन मनोज्ञ होता जा रहा है, तारावली नित्य चटकीली होती जा रही है। उन्हें लगा था कि यह तारावली के

छितराये हुए हैं। सिर पर यह जो आकाश-गंगा दिखाई दे रही है, जिसमें लाख-लाख नक्षत्रपिण्ड एक साथ सिमटे दिख रहे हैं---कितनी विराट् है वह। इनमें से कितने ही ऐसे हैं जिनका प्रकाश आते-आते लाखों वर्ष लग गये हैं। इनका अर्धरात्रि-वेग इतना प्रचण्ड है कि हमारे ज्ञात जगत् की कोई गति उसके साथ तुलनीय नहीं है। प्रकाश का वेग ही हमारा जाना हुआ सर्वाधिक प्रचण्ड वेग है। लेकिन वह दूर के बालूकण के समान जो नक्षत्र-पिण्ड दिखाई दे रहे हैं उनके अर्धरात्रि वेग की समानता नहीं कर सकता। कितना विशाल चक्र हमारे सिर के ऊपर घूम रहा है और फिर भी कितनी शान्ति के साथ। सोचिये तो भला, हमारा सूर्य इन सब में छोटा है (यह सूर्य ही हमारी पृथ्वी से कई लाख गुना बड़ा है)। ज्योतिषियों के हिसाब से इस बिचारे की स्थिति बड़ी विचित्र है। ऐसा समझिये कि पर्वतों की जमात में कोई ढेला है, और फिर एक बार कल्पना कीजिये उस एनर्जी (शक्ति) की जो नित्य हमारे सिर पर बरस रही है। हमारे सूर्य देवता ही प्रति सेकेण्ड इतने टन एनर्जी बखेर रहे हैं जितना साल भर में इलाहाबाद के पुल के नीचे यमुना मैया पानी ढरका देती हैं। और फिर सोचिये कि इतने विशाल ब्रह्माण्ड में सूर्य से लाख गुना बड़े लाख-लाख नक्षत्र-पिण्ड कितनी शक्ति नित्य छोड़ रहे हैं। किसलिए ? मेरा तो सिर घूम जाता है। यह इतना बड़ा आयोजन किस लिये है ? इस विराट् विश्व में पृथ्वी कितनी नगण्य वस्तु है, इस पर के ये मनुष्य। हाय हाय, ये जब सेना साज कर विश्व-विजय करने निकलते हैं तो न जाने अपने को क्या समझते हैं ? क्यों सत्यार्थी जी, आपने चींटियों की लड़ाइयां देखी हैं ? उनका भी तो कोई विश्व-विजय का लक्ष्य होता होगा, उनके भी तो चर्चिल और हिटलर होते होंगे। मनुष्यों की विजय-लालसा क्या उनसे बहुत अधिक बड़ी होती है ? लेकिन मनुष्य को मैं छोटा नहीं कहता। मैं उसके दम्भ को छोटा कहना चाहता हूँ। मनुष्य कैसे छोटा हो सकता है। इतनी-सी पृथ्वी पर बैठ कर इतना अदना होते हुए भी वह लाख-लाख प्रकाश वर्षों में व्याप्त

छितराये हुए हैं। सिर पर यह जो आकाश-गंगा दिखाई दे रही है, जिसमें लाख-लाख नक्षत्रपिण्ड एक साथ सिमटे दिख रहे हैं—कितनी विराट् है वह। इनमें से कितने ही ऐसे हैं जिनका प्रकाश आते-आते लाखों वर्ष लग गये हैं। इनका अर्धरात्रि-वेग इतना प्रचण्ड है कि हमारे ज्ञात जगत् की कोई गति उसके साथ तुलनीय नहीं है। प्रकाश का वेग ही हमारा जाना हुआ सर्वाधिक प्रचण्ड वेग है। लेकिन वह दूर के बालूकण के समान जो नक्षत्र-पिण्ड दिखाई दे रहे हैं उनके अर्धरात्रि वेग की समानता नहीं कर सकता। कितना विशाल चक्र हमारे सिर के ऊपर घूम रहा है और फिर भी कितनी शान्ति के साथ। सोचिये तो भला, हमारा सूर्य इन सब में छोटा है (यह सूर्य ही हमारी पृथ्वी से कई लाख गुना बड़ा है)। ज्योतिषियों के हिसाब से इस विचारे की स्थिति बड़ी विचित्र है। ऐसा समझिये कि पर्वतों की जमात में कोई ढेला है, और फिर एक बार कल्पना कीजिये उस एनर्जी (शक्ति) की जो नित्य हमारे सिर पर बरस रही है। हमारे सूर्य देवता ही प्रति सेकेण्ड इतने टन एनर्जी बखेर रहे हैं जितना साल भर में इलाहाबाद के पुल के नीचे यमुना मैया पानी ढरका देती हैं। और फिर सोचिये कि इतने विशाल ब्रह्माण्ड में सूर्य से लाख गुना बड़े लाख-लाख नक्षत्र-पिण्ड कितनी शक्ति नित्य छोड़ रहे हैं। किसलिए? मेरा तो सिर घूम जाता है। यह इतना बड़ा आयोजन किस लिये है? इस विराट् विश्व में पृथ्वी कितनी नगण्य वस्तु है, इस पर के ये मनुष्य। हाय हाय, ये जब सेना साज कर विश्व-विजय करने निकलते हैं तो न जाने अपने को क्या समझते हैं? क्यों सत्यार्थी जी, आपने चींटियों की लड़ाइयां देखी हैं? उनका भी तो कोई विश्व-विजय का लक्ष्य होता होगा, उनके भी तो चर्चिल और हिटलर होते होंगे। मनुष्यों की विजय-लालसा क्या उनसे बहुत अधिक बड़ी होती है? लेकिन मनुष्य को मैं छोटा नहीं कहता। मैं उसके दम्भ को छोटा कहना चाहता हूँ। मनुष्य कैसे छोटा हो सकता है। इतनी-सी पृथ्वी पर बैठ कर इतना अदना होते हुए भी वह लाख-लाख प्रकाश वर्षों में व्याप्त

सो, मनुष्य जो रहस्य की व्याख्या किया करता है वह सब समय सत्य के नजदीक ही नहीं होता। और यह अच्छा ही है कि उसे सब रहस्यों का पता नहीं है। मगर बलिहारी है उस जादूगर के हुनर की, जिसने इतने बड़े रहस्य को इतना सुन्दर बना दिया।

मैंने और आपने किसी दिन साथ ही साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था। आप शाश्वत मानव-चित्त के रस-निर्झर का संधान खोजने निकल पड़े और मैं रटी-रटाई बोलियों के माध्यम से कविता का रहस्य समझने लगा। लेकिन शुरू में ही ज्योतिष की छाया पड़ जाने से मेरी दृष्टि कुछ अजीब-सी धूमिल हो गई थी। मुझे उन तथाकथित बड़ी-बड़ी बातों को गम्भीरतापूर्वक न देखने की आदत पड़ गई है जिन्हें मनुष्य ने लोभवश और मोहवश बड़प्पन दे रखा है। मैं दुनिया की ऐसी बहुत-सी बातों को हँस के टाल सकता हूँ जिन्हें साधारणतः पण्डितजन भी महत्वपूर्ण मान लेते हैं। मैं बराबर सोचता रहता हूँ कि अनन्तकाल और अनन्त देश के भीतर यह अत्यन्त तुच्छ मानव-जीवन और उसकी चेष्टाएँ बहुत अधिक महत्व की वस्तु नहीं हैं। साहित्य के अध्ययन ने इसमें थोड़ा सुधार भी किया है। मैं मनुष्य की उस महिमा को भूल नहीं सकता जो इस विशाल ब्रह्मांड की नाप-जोख करने का साहस रखती है। ज्योतिष ने मेरी दृष्टि में जहां उपेक्षा की धूमिलता दी है वहीं कविता ने मुझे मनुष्य के हृदय की महिमा समझने की रंगीनी भी दी है। मैं जानता हूँ कि इस हृदय से निकला हुआ हर ईंट-पत्थर अमूल्य हो जाता है। कविता में उस हृदय गंगा के स्नात नश्वर पदार्थों की महिमा व्यक्त होती है। इन कास के फूलों की क्या बिसात है, इन हंसों की ध्वनि का क्या मूल्य है, इस कब्र के ठण्ढे बने हुए राख और धूल के ढेले चन्द्रमा की क्या वुकत है, परन्तु मनुष्य के हृदय के भीतर से एक बार धुल जाने के बाद इनकी कीमत आँकिये। हां, मनुष्य मनुष्य कहाने-लायक होना चाहिए। कालिदास की आंखों के रास्ते यही शरद् ऋतु किसी दिन उनके विशाल और सरस हृदय में प्रविष्ट हुई थी। वहां से

छायामय विश्व को तुमने स्वप्नों की कल्पनाओं से गढ़ा होगा, शायद किसी नानी के मुंह से सुनी हुई परियों की कहानी के सांचे में वह ढला होगा—जिस लोरियों की बनी कहानी का न कोई आदि है न कोई अन्त है !

"मैं सोच रहा हूँ कि अचानक एक दिन यदि वैशाख के महीने में आंधी के झोंकों से नदी लाज-शर्म छोड़ कर बन्धनहीन सूने आसमान में नाच उठे—यदि उसका पागलपन जाग पड़े—और फिर उस आंधी के झकोरों से तुम्हारे घर की सभी जंजीरें खुल जायँ और तुम्हारी आंखों पर पड़ा हुआ यह घूंघट भी उड़ जाय······और फिर यह सारा जगत् तीव्र विद्युत् की हँसी हँस कर एक क्षण में शक्ति का वेश धारण करके तुम्हारे घर में घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय, तो फिर कहां रहेगी यह आधे ढंके अलस दिवस की छाया, यह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनों-सनी कल्पना से गढ़ी हुई माया ? सभी उजड़ जायेंगे !

"सोचता हूं कि उस समय तुम्हारी घूंघट-रहित काली आंखों के कोनों में न जाने किसका प्रकाश कांपेगा, अपने-आप में खोये हुए प्राणों के आनन्द में अच्छा और बुरा सब-कुछ डूब जायगा और तुम्हारे वक्षस्थल में रक्त की तरंगिणी उत्ताल नर्तन के साथ नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीर में यह कंकण और किंकिणी अपने चंचल कम्पनों से कौन-सा सुर बजा देंगी ! आज तुम अपने को आधी ढंकी रख कर घर के एक कोने में खड़ी होकर न जाने किस माया के साथ इस जगत् को देख रही हो—मैं मन ही मन यही सोच रहा हूँ। तुम्हारे रास्ते में यह जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल-सा तुम्हें लग रहा है—छोटे दिन के कामों की कितनी छोटी-छोटी हँसी और रुलाइयां न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं तुम्हारे चित्त में ! ···मैं यही सोच रहा हूँ।"[1]

---

[1] 'खेया' से।

सो, मनुष्य जो रहस्य की व्याख्या किया करता है वह सब समय सत्य के नजदीक ही नहीं होता। और यह अच्छा ही है कि उसे सब रहस्यों का पता नहीं है। मगर बलिहारी है उस जादूगर के हुनर की, जिसने इतने बड़े रहस्य को इतना सुन्दर बना दिया।

मैंने और आपने किसी दिन साथ ही साथ साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था। आप शाश्वत मानव-चित्त के रस-निर्झर का संधान खोजने निकल पड़े और मैं रटी-रटाई बोलियों के माध्यम से कविता का रहस्य समझने लगा। लेकिन शुरू में ही ज्योतिष की छाया पड़ जाने से मेरी दृष्टि कुछ अजीब-सी धूमिल हो गई थी। मुझे उन तथाकथित बड़ी-बड़ी बातों को गम्भीरतापूर्वक न देखने की आदत पड़ गई है जिन्हें मनुष्य ने लोभवश और मोहवश बड़प्पन दे रखा है। मैं दुनिया की ऐसी बहुत-सी बातों को हँस के टाल सकता हूँ जिन्हें साधारणतः पण्डितजन भी महत्वपूर्ण मान लेते हैं। मैं बराबर सोचता रहता हूँ कि अनन्तकाल और अनन्त देश के भीतर यह अत्यन्त तुच्छ मानव-जीवन और उसकी चेष्टाएँ बहुत अधिक महत्व की वस्तु नहीं हैं। साहित्य के अध्ययन ने इसमें थोड़ा सुधार भी किया है। मैं मनुष्य की उस महिमा को भूल नहीं सकता जो इस विशाल ब्रह्मांड की नाप-जोख करने का साहस रखती है। ज्योतिष ने मेरी दृष्टि में जहां उपेक्षा की धूमिलता दी है वहीं कविता ने मुझे मनुष्य के हृदय की महिमा समझने की रंगीनी भी दी है। मैं जानता हूँ कि इस हृदय से निकला हुआ हर ईंट-पत्थर अमूल्य हो जाता है। कविता में उस हृदय गंगा के स्नात नश्वर पदार्थों की महिमा व्यक्त होती है। इन कास के फूलों की क्या बिसात है, इन हंसों की ध्वनि का क्या मूल्य है, इस कब्र के ठण्डे बने हुए राख और धूल के ढेले चन्द्रमा की क्या वुकत है, परन्तु मनुष्य के हृदय के भीतर से एक बार धुल जाने के बाद इनकी कीमत आँकिये। हां, मनुष्य मनुष्य कहाने-लायक होना चाहिए। कालिदास की आंखों के रास्ते यहीं शरद् ऋतु किसी दिन उनके विशाल और सरस हृदय में प्रविष्ट हुई थी। वहां से

स्नात होकर वह जो निकली तो उसमें नववधू की गरिमा आ गई, उतनी ही मोहक, उतनी ही पवित्र, उतनी ही मधुर। यह कास-पुष्पों की मनोहर साड़ी, विकच पद्मोंवाला रमणीय मुख, उन्नत हंसों की ध्वनिवाले नू-पुर, अधपके धान की वल खाती हुई वल्लरियोंवाली गात्रयष्टि'—ये जब एक साथ कालिदास के सरस, निर्मल हृदय में एकत्र हुईं तो उन्होंने उल्लास के साथ घोषित किया—लो, यह नव वधू के समान रूपरम्भा शरद् ऋतु आ गई—

> **काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा,**
> **सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।**
> **आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः,**
> **प्राप्ताशरन्नववधूरिव रूपरम्या॥**

ज्योतिष आगे बढ़ गया है, पदार्थ-विद्या दूर तक निकल गई है, यह पृथ्वी सौरमण्डल की पूंछ में बँधी हुई न जाने इस ब्रह्मांड का कितना हिस्सा घूम आई है, कविता की आलोचना भी बहुत बढ़ गई है—पर मनुष्य के निर्मल अन्तःकरण से निकली हुई यह काव्य-मंदाकिनी आज भी उतनी ही उल्लासदायिनी, उतनी ही सरस और उतनी ही पवित्र है। लाख-लाख सहृदयों की आंखों पर यह विहर चुका है और फिर भाई सत्यार्थीजी,

> **यह मन्द चलै किन भोरी भट्ट,**
> **पग लाखनि की अँखिआँ अटकीं।**

मैं कैसे बताऊं कि मेरी सारी उदासीनताओं को मनुष्य के हृदय की यह सरसता कितने-कितने रंगों में रँगा करती है। मैं रहस्य समझने के फेर में नहीं पड़ने का। आप यह समझें कि मैं अपनी बड़ाई हांक रहा हूँ। मैं तो अपने एकांगीपन का पचड़ा सुना रहा हूँ।

और यही कारण है कि मैं उन कवियों की कविता का जम के आनन्द ले सकता हूँ जो निस्संग होते हुए भी मनुष्य के हृदय की महिमा को समझते हैं। कालिदास ऐसे ही थे, तुलसीदास ऐसे ही थे और

रवीन्द्रनाथ भी ऐसे ही थे। जहां निस्संगता नहीं मिलती वहां मस्ती अज फक्कड़ाना लापरवाही भी नहीं मिलती। जो किये-कराये का हिसाब ढोता फिरता है, जो बराबर पीछे की ओर देख कर हाय-हाय करता रहता है वह कवि मुझे नहीं भुला सकता।

मैं समझता हूँ काफी बेकार-सी बातें लिख गया हूँ और फिर भी इस कुशलता के साथ कि आपके किसी प्रश्न की पकड़ में नहीं आ सका।

शान्ति-निकेतन,
११-१०-४८

आपका
हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रस्तावना
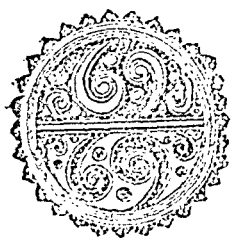
'एक युग : एक प्रतीक' के अनेक निबन्ध रेखाचित्र से सटे हुए हैं। यह दो भिन्न शैलियों के सम्मिश्रण की बात कदाचित कुछ आलोचकोंको आपत्तिजनक प्रतीत हो। मेरे पास इसका एक ही उत्तर है कि यह लेखक की रुचिकी बात है। किसी एक शैली से बंध जाना मुझे कभी रुचिकर नहीं हुआ। मैं एक सब्जी को दूसरी सब्जी में मिला कर खाने का शौकीन हूं, और जहां तक दही का सम्बन्ध है इसे मैं हर सब्जी में मिला कर खाने का समर्थक हूँ। अतः यदि मैंने निबन्ध को रेखाचित्र में मिला दिया है तो इसमें भी मुझे अपराधी न ठहराया जाय।

मुख्य निबन्ध में गुरुदेव के प्रति मैंने एक श्रद्धांजलि अर्पित करने का दायित्व निभाया है। एक से अधिक निबन्धोंमें बापू की चर्चा की गई है। मैं इन निबन्धों की सम्पूर्णता का दावा नहीं करना चाहता।

कुछ निबन्धों में कला का उल्लेख किया गया है। कला की परख पर मेरा कहां तक अधिकार है, यह बात मैं विशेष आग्रह-पूर्वक नहीं कह सकता। कला के प्रति मेरे हृदय में आकर्षण है,

अनेक कला-वस्तुओं को देखने के लिए मैंने परिश्रम किया है, अनेक कलाकारों के साथ मेरा सम्पर्क रहा है; इसीसे मुझे इस सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस हुआ।

'तीन पुस्तकें' शीर्षक आलोचना की आधारभूत सामग्री तीन लोकगीत सम्बन्धी पुस्तकें हैं, जिनका मैं हिन्दी-साहित्य में बहुत बड़ा स्थान मानता हूँ।

कुछ निबन्धों में भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति आस्था प्रकट की गई है। भारत का भविष्य उज्ज्वल है—यह मेरा विश्वास है।

बन्धुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक साहित्यिक पत्र का आमुख के रूप में प्रयोग किया गया है। इसके लिए मैं द्विवेदीजी का ऋणी हूँ।

श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन के कर-कमलों में 'एक युग : एक प्रतीक' को समर्पित करते हुए मुझे विशेष हर्ष हो रहा है, क्योंकि राष्ट्रभाषा के समर्थक के रूप में ही नहीं—हिन्दी साहित्य के अग्रगामी शक्ति-दूत के रूप में भी उनका स्थान चिर-वन्दनीय रहेगा।

१००, बेयर्ड रोड, —देवेन्द्र सत्यार्थी
नई दिल्ली,
२५ अक्तूबर, १९४८

सूची

एक युग : एक प्रतीक

गुरुदेव की मृत्यु के पश्चात् पहली बार शान्तिनिकेतन गया तो मुझे यों लगा कि आश्रम ने बहुत-कुछ खो दिया। एक बार गुरुदेव ने कहा था, 'कवि-गुरु कालिदास द्वारा वर्णित उन तपोवनों और ऋषि-आश्रमों के लिए मन में एक प्रबल आकर्षण रहता था। ऐसी किसी प्रबल आकांक्षा ने ही उस कवि-गुरु के दो सहस्र वर्ष के पश्चात उत्पन्न हुए मुझ सरीखे कवि को सजग बनाया।' यों लगा जैसे अब शान्तिनिकेतन ही गुरुदेव का सब से बड़ा स्मारक हो। पुरानी झोंपड़ियां तो गुरुदेव के जीवन-काल में ही उठनी शुरू हो गई थीं। उनके स्थान पर पक्के कमरे बनते चले गये, क्योंकि प्रबन्धकों ने हिसाब लगा कर देख लिया था कि झौंपड़ियों की मरम्मत बहुत मंहगी पड़ती है। मुझे वे झोंपड़ियां ही प्रिय थीं। गुरुदेव का बस चलता तो वे उन्हें कभी न उठने देते। पक्के मकान अधिक सुखकर थे अवश्य, पर वे झौंपड़ियों की भांति प्रकृति के चित्रपट से बहुत कम मेल खाते थे। फिर भी वृक्ष तो उसी तरह खड़े थे जिनकी छाया में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की घनिष्टता अब भी स्थिर थी। शान्ति-

निकेतन में मनाये जाने वाले ऋतु उत्सवों की याद ने मुझे पुलकित कर दिया। गुरुदेव ने इन उत्सवों पर नाट्य, संगीत और नृत्य के नये-नये प्रयोग किये थे।

गुरुदेव नहीं रहे, पर सोचता हूं शान्तिनिकेतन में कचनार के पेड़ अब भी खिलते होंगे। पलास भी। अपने-अपने खोपे पर कोई न कोई फूल सजाये सन्थाल युवतियां अब भी शान्तिनिकेतन के बीच में से गुजरने वाली सड़क पर चलती होंगी, जैसे उनके लिये सब वैसा ही हो। कोई उन्हें कैसे बतायें कि गुरुदेव अब नहीं रहें, जो इस आश्रम के निर्माता थे।

एक बार मैंने यों ही गुरुदेव से पूछ लिया, 'क्या यह सम्भव है भाषान्तर में आपकी रचनाओं का सौंदर्य कायम रहे?'

वे बोले, 'भाषान्तर में मूल का सौंदर्य बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है। मुझे अपनी कविताओं के स्वयं अपने हाथों से किये हुए अंगरेजी अनुवाद भी बहुत अधिक पसन्द नहीं।'

मैंने फिर कहा, 'शायद यह इसलिए हो कि अंगरेजी बंगला से एक दम भिन्न भाषा है। हिन्दी तो बंगला के बहुत समीप है। हिन्दी में आपकी कविताओं के अनुवाद अधिक सफल हो सकते हैं।'

वे बोले, 'अनुवाद किसी भी भाषा में क्यों न किया जाय, आखिर वह अनुवाद ही तो रहता है। मूल कविता का छन्द तो पीछे ही छूट जाता है, और यह बेचारी छन्दहीन कविता अनुवाद में उस स्त्री की तरह नजर आती है जिसे स्वदेशी वस्त्रों के स्थान पर विदेशी परिधान पहना दिये गये हों।'

मैंने कहा, 'खैर, कविता की तो बात ही अलग है। आपकी कहानियां तो अनुवाद में भी अपना प्रभाव कायम रखती हैं। उपन्यास भी।'

'हां, यह ठीक है', वे बोले, 'परन्तु कोई उनका वास्तविक रस

लेना चाहे तो उसे बंगला में ही उन्हें पढ़ना चाहिए।'

आपने बंगला का महत्व बहुत बढ़ा दिया है, मैंने कहा, 'मैं कई अंगरेजों को बंगला सीखते देख चुका हूं।'

वे हंस कर बोले, 'बंगला कुछ इतनी कठिन थोड़ी है। जब हम अंगरेजी सीख गये तो अंगरेज भी बंगला सीख सकते हैं।'

मैंने कहा, 'आपने अंगरेजी में अपनी रचनाओं के अनुवाद प्रस्तुत करके अंगरेजों की दिक्कत बहुत कुछ सहल करदी, नहीं तो न जाने कितने अंगरेजों को बंगला सीखने पर मजबूर होना पड़ता।'

गुरुदेव के समीप जाने पर अनेक बार मैंने अनुभव किया कि मैं स्वयं हिमालय के सम्मुख खड़ा हूँ। उनकी स्निग्ध मुसकान अग्रसर होकर सदैव आगंतुक का स्वागत करने के लिये तैयार रहती थी। कई बार ऐसा भी होता कि उनके प्राइवेट सैक्रेटरी मुलाकातियों की भीड़-भड़क्का देख कर गुरुदेव के साथ उनकी भेंट कराने से संकोच कर जाते। पर स्वयं गुरुदेव कभी यह नहीं चाहते थे कि लोग उनसे भेंट न कर सकें। जब भी कोई नया मुलाकाती आता, वे सदैव उसके सम्मुख अपना हृदय खोल कर रख देने के लिए तैयार रहते।

शान्तिनिकेतन में आये हुए एक यात्री को कई दिन हो गये थे। कुछ दिन उसे अतिथि के रूप में रसोई से खाना मिलता रहा। फिर कई दिन उसने जेब से पैसे देकर टिकट खरीदना शुरू कर दिया। पर जब उसके पैसे भी खत्म हो गये, वह एक दिन गुरुदेव के पास पहुँचा। गुरुदेव ने पूछा, कोई कष्ट तो नहीं। किसी चीज की जरूरत हो तो कहो। वह बोला, बस थोड़े रुपये चाहिएं जिससे कुछ दिन रसोईघर का टिकट खरीदता रहूं। गुरुदेव हँस कर बोले, ये रसोईघर वाले भी एक दम मूर्ख हैं। आदमी को तो पहचानते ही नहीं। मैं तो ऐसी भूल नहीं

कर सकता। तुम यहीं आ जाया करो ना! पर इतना याद रहे कि मेरे खाने का ठीक समय क्या है।

गुरुदेव ने एक स्थान पर बंगाल के प्रति असीम स्नेह प्रकट किया है—

बांगलार माटी बांगलार जल
बांगलार हावा बांगलार फल
पुन्य होऊक पुन्य होऊक हे भगवान।

बंगाल की माटी, बंगाल का जल
बंगाल की हवा, बंगाल के फल
पुन्य हों, पुन्य हों, हे भगवान

पर गुरुदेव की प्रतिभा केवल बंगाल की थाती नहीं है। प्रान्तीय सीमाओं को लांघ कर उन्होंने समूचे देश की जन शक्ति का आह्वन करने की मर्यादा अपनाई थी—

सार्थक जनम आमार जन्मेछि ए देशे।
सार्थक जनम मा गो तोमाय भालो वेसे॥
जानिने तोर धन रतन, आछे कि न रानीर मतन।
शुधु जानि आमारे अंग जुड़ाय तोमार छायाय ऐसे॥
कोन वने ते जानिने फूल गन्धे एमन करे आकुल।
कोन गगने ओठे रे चाँद एमन हासि हेसे।
आँखि मेले तोमार आलो, प्रथम आमार चोख जुडालो।
ओई आलोतेइ नयन रेखो, मूदवो नयन शेषे॥

मेरा जन्म सार्थक है जो इस देश में उत्पन्न हुआ।
मेरा जन्म सार्थक है, ओ माँ, जो मैं तुझे प्यार करता हूँ।
ठीक नहीं जानता कि तेरे पास रानी के समान कितना धन है, कितने रत्न हैं।
बस इतना जानता हूँ कि तेरी छाया में आने पर मेरे अंग-अंग जुड़ा जाते हैं।

ठीक नहीं जानता कि और किसी वन में फूल अपनी सुगंध से आकुल कर देते हैं। यह भी नहीं जानता कि और किसी आकाश पर ऐसी हंसी हंसने वाला चाँद उठता है। तेरे प्रकाश में सर्व-प्रथम मैंने आँखें खोलीं।

बस, उसी आलोक में आँखें बिछाये रहूँगा, उसी आलोक में आँखें मूंद लूंगा।

गांधीजी के कथनानुसार गुरुदेव भारत के महान प्रहरी थे। दुनिया की नजरों में भारत का दरजा ऊंचा उठाने में वस्तुतः वे बहुत सहायक हुए। वे सदैव विश्व-प्रेम की ठोस चट्टान पर खड़े होकर जन्मभूमि से प्रेम करते रहे।

: २ :

एक युग जा रहा था, एक युग आ रहा था, जब सन् १८६१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म हुआ। किस प्रकार वे बारह-तेरह वर्ष की अवस्था से ही गद्य-पद्य रचना में जुट गये, इसका श्रेय कलकत्ता में जोडासांखो के ठाकुर भवन की शिक्षा-दीक्षा, ऐश्वर्य तथा साहित्यिक चेतना को मिलना चाहिए। गोष्ठियों का क्रम निरन्तर चलता रहता। जाने-अनजाने सम्मेलन बुलाये जाते। अभिनय और संगीत की मजलिस अलग अपनी शान रखती थी। समूचे वातावरण में कला की प्रेरणा रची हुई थी।

बंगला साहित्य का मूल-स्वर, जो मजीरे और मृदंग के साथ अकेले या दलबद्ध रूप में 'पंचालिका' अथवा कठपुतली के नाच के साथ गाये जाने वाले 'पाँचाली' गान से आरम्भ होकर देवताओं अथवा देव-तुल्य पुरुषों की महिमा कीर्ति का बखान करने वाले मंगल-गान और वैष्णव पदावली को लाँघता हुआ तेरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दि तक आ पहुँचा था, रवीन्द्रनाथ की वाणी द्वारा एकदम नये सन्देश का वाहक सिद्ध हुआ। सोलहवीं शताब्दी में मैथिल-कवि विद्यापति ने कृष्णलीला

विषयक अनेक वैष्णव गान प्रस्तुत किये और यह इस कवि का सौभाग्य था कि उसके गान बहुत शीघ्र बंगला में घर-घर गाये जाने लगे। इनसे प्रभावित होकर अनेक बंगला कवि भी इसी भाषा में गान रचने का यत्न करने लगे, यहाँ तक कि चंडीदास ने भी बहुत कुछ इसी भाषा को अपनाया। मैथिल में बंगला का सम्मिश्रण स्वाभाविक था। यह मिश्रित भाषा ब्रज बोली के नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि सभी यह कल्पना करते थे कि द्वापर युग में राधा-कृष्ण इसी भाषा में वार्तालाप करते होंगे। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ब्रजबोली बंगाल की वैष्णव गीति कविता का माध्यम बनी रही, हालांकि ब्रजभाषा से इसका कभी कोई सम्बन्ध स्थापित न हो पाया। उन्नसवीं शताब्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपनी आरम्भिक कविता 'भानुसिंहरे पदावलि' ब्रज बोली में ही लिखी और इसे अपने बड़े भ्राता द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रकाशित और अपनी बहन स्वर्णकुमारी द्वारा सम्पादित 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित कराया। इस पदावलि की कुछ पंक्तियाँ रवीन्द्रनाथ को अन्तिम दिनों तक प्रिय रहीं—

मरण रे, तुहुँ मम श्याम समान
मृत्यु अमृत करे दान
तुहु मम श्याम समान।

एक युग जा रहा था, एक युग आ रहा था। इसका चित्र स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े मार्मिक शब्दों में अंकित किया है,मेरे जन्म से पहले ही हमारा परिवार समाज के पक्के घाटों से बाहर आकर अपनी नाव बांध चुका था। वहां पर आचार, अनुशासन और क्रिया-कर्म कम थे। हमारा घर बहुत बड़ा था। पुराने ज़माने से चला आता था। उसकी ड्योढ़ी पर कुछ ज़ंग लगी हुई थी। तलवार, ढाल, बरछियां झूलती रहती थीं। मकान के अंदर

एक ठाकुरजी का आंगन था, अन्य कई आंगन थे, भीतर और बाहर बाग थे, साल भर के लिये गंगाजल रखा जा सके, ऐसे बड़े-बड़े घड़ों से भरा हुआ एक अंधेरा कमरा था । कभी इस मकान में पुराने तीज-त्योंहारों का दौर था । मैं तो उसके बाद आया । मैं जब इस मकान में और इस दुनिया में आया तो प्राचीन युग का अवसान हो चुका था और नवयुग का पौ कट रहा था । नवयुग तो आया, पर अभी उसका साजो सामान नहीं आया था । इस मकान से जिस प्रकार इस देश के सामाजिक जीवन का स्रोत परे चला गया था, उसी प्रकार पहले का मानसिक स्रोत भी बन्द हो गया था । कभी दादाजी प्रिंस द्वारिकानाथ के ऐश्वर्य की दीवाली यहां विविध शिखाओं में दीप्यमान थी, पर अब तो केवल जल जाने के बाद के काले दाग थे और राख का ढेर था । हां, एक टिमटिमाती शिखा अब भी जल रही थी । इस परिवार में जिस प्रकार की स्वतंत्रता उत्पन्न हुई थी, वह उसी तरह की थी, जैसे किसी टापु में उत्पन्न जानवरों में देखी जाती है ।

एक और स्थान पर अपने बचपन का चित्र अंकित करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा था, संध्या समय तेल का दीया जलाया जाता था, उसी की क्षीण रौशनी में चटाई बिछा कर बूढ़ी नौकरानी से कहानियां सुना करता था । इस जगत में मैं था, एकाकी, लज्जाशील, नीरव और अचंचल ।

मैंने एक बार उनसे कहा था, सबसे बड़ी बात यह हुई कि आपने ब्रज बोली के कृत्रिम बन्धनों से बहुत शीघ्र मुक्ति प्राप्त करली और बंगला भाषा को ही एक स्वस्थ माध्यम के रूप में अपना लिया ।

वे कह उठे थे, मुझे बंगला ही प्रिय लगी । काव्य साधना में मैं निरन्तर आध्यात्मिकता का समर्थक रहा हूँ । वेद, उपनिषद्

की मार्मिक वाणी तथा वैष्णव कवियों द्वारा प्रस्तुत की हुई विचारा-धारा मुझे सदैव प्रिय रही है। बंगाल के बाउल वैरागियों के गान भी मुझे प्रेरणा देते रहे हैं।

गुरुदेव ने अपनी विदेश यात्रा का उल्लेख करते हुए एक बार एक मजेदार कहानी सुनाई थी। एक ऐसे अध्यापक से भेंट होने पर, जिसने 'भानुसिंहरे' पदावली के तथाकथित कवि 'भानुसिंह' को चंडीदास से भी पहले का कवि सिद्ध करने का यत्न किया था, गम्भीर स्वर में कह उठे थे, पर वह चंडीदास से भी पुराना कवि भानुसिंह तो आज तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। उस अध्यापक ने अपनी अल्पज्ञता जतलाते हुए खिसियाना होकर कहा था, भानुसिंह पदावली की बहुत फटी-पुरानी प्रति मेरे हाथ लगी थी। इसीलिए इतनी भूल हुई। गुरुदेव ने हंस कर उसके उत्तर में कहा था, अब यूनिवर्सिटी वाले आपसे डाक्टरेट तो वापस नहीं लेंगे।

संसार की अनेक भाषाओं में उनकी पुस्तकों के अनुवाद हुए, अनेक साहित्यकारों को देश-विदेश में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रभावित किया।

यह बंगाल का सौभाग्य था कि उसकी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए गुरुदेव जैसे साहित्यकार का आविर्भाव हुआ। वैसे तो प्रायः भारत की प्रत्येक भाषा गुरुदेव की ऋणी है, क्योंकि उनकी रचनाओं के अनुवाद प्रस्तुत करते समय नवीन शब्दों या शब्द-प्रयोगों की आवश्यकता पड़ी। स्वयं गुरुदेव ने बंगला को नई ही गति-विधि प्रदान की। आधुनिक बंगला का वाक्य स्वरूप और व्याकरण घड़ने में यदि कवीन्द्र का कुशल हाथ न लगा होता तो कौन कह सकता है कि यह किस मोड़ पर अनिश्चित् रूप में खड़ी हो गई होती।

गुरुदेव को दो सहस्र से भी अधिक गान रचने का श्रेय

प्राप्त है। एक स्थान पर उन्होंने अपनी संगीत साधना का परिचय देते हुए कहा है, गांव के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अन्तर में यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानो तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमें उसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहां पैदल चल कर नहीं जाया जाता, वहां की राह किसी ने आंखों नहीं देखी। पंद्रह-सोलह वर्ष की उदीयमान आयु से ही जिस महाकवि ने गीत काव्य की रस-वर्षा से राष्ट्र की भाव-भूमि को सींचना आरम्भ कर दिया हो, पैंसठ वर्ष तक जिन का शब्द संगीत कभी रुद्ध न हुआ हो, जिन्होंने मृत्यु शय्या पर से भी एक महान गान के बोल लिखाये, उन्हें शत-शत प्रणाम!

'नाइ नाइ भय, हबे हबे जय, खुले जावे एह द्वार, शीर्षक गान में गुरुदेव कहते हैं—'भय नहीं है, भय नहीं है, विजय होगी, विजय होगी—यह द्वार खुल जायगा। मैं जानता हूँ, तेरे बन्धन की डोर बार-बार टूट जायगी। क्षण-क्षण तू अपने आपको खोकर सुप्ति की रात काट रहा है। बार-बार तूने विश्व का अधिकार पाया होगा। स्थल में, जल में तेरा आह्वान है, लोकालय में तेरा आह्वान है। चिरकाल तक तू सुख दुख में, लाज भय में जो गान गायेगा, तेरे एक-एक स्वर में बूल पल्लव, नदी निर्भर, स्वर मिलाएंगे और तेरे छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होंगे।' आज वह द्वार सदा के लिए खुल गया। क्या ही अच्छा होता कि आज गुरुदेव जीवित होते और शान्तिनिकेतन में अपने निवास-स्थान उत्तरायण के द्वार पर खड़े होकर स्वतंत्रता की ऊषा का स्वागत करते, जिसकी प्रतीक्षा में वे अन्तिम निःश्वास तक आकुल रहे।

एक बार किसी ने गुरुदेव से कहा था, '६०० गानों के रचयिता बार्ट को संसार के सबसे अधिक गानों का

रचयिता कहा जाता है। पर आपने तो कोई उससे चौगुने गान रचे हैं।'

इसके उत्तर में वे कह उठे थे, 'युवावस्था में मेरा गला अच्छा था। मेरी शिक्षा उस्तादी संगीत में हुई थी, पर मैंने उस्तादी संगीत का पथ अपनाना पसंद नहीं किया। गानों की कथा-सृष्टि, स्वर-सृष्टि और कथा तथा स्वर की सहायता से कंठ द्वारा होने वाली अत्यन्त विचित्र ध्वनि रूप सृष्टि के त्रिविध कृतित्व की ओर सदैव मेरा ध्यान रहा।'

आगंतुक ने फिर कहा, 'वस्तुतः आप पहले संगीतस्रष्टा हैं, फिर कुछ और।'

एक महान् स्वरकार और शब्द-शिल्पी के रूप में गुरुदेव ने ऊषा के रंगों की मृदुता और प्रफुल्लता द्वारा अनेक सुन्दर गानों की सृष्टि की। रात्रि एशे जेथाय दिनेर पारावारे, तोमाय आमाय देखा होलो सेइ मोइनार धारे। अर्थात् जहाँ रात्रि आकर दिन के पारावार में मिलती है, उसी मोइना की धारा पर तेरे साथ मेरी आँखें मिल गईं...सीमार माझे असीम तुमि वाजाओ आपन सुर अर्थात् तुम सीमा के भीतर असीम हो, अपना स्वर वजा रहे हो......अह जागि पोहालो विभावरी, क्लान्त नयन तव सुन्दरी, अर्थात् अहा, जाग कर रात विता दी तेरे नयन थके-थके से हैं, ओ सुन्दरी......वाजिली काहार वीणा मधुर स्वरे, आमार निभृत नव जीवन परे, अर्थात् मधुर स्वरों में किसकी वीणा वज उठी, मेरे निर्जन नवीन जीवन के ऊपर......आजि शरत् तपने प्रभात स्वप्ने, कि जानि परान किजे चाय, अर्थात् आज शरद् ऋतु के सूर्योदय में, प्रभात के स्वप्नकाल में न जाने हृदय क्या चाहता है......लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा, अर्थात् मेरे इस स्वच्छ श्वेत पाल में मन्द मधुर हवा लग रही है......यदि तोर ढाक तुने के न आसे, तवे एकला

चल रे, अर्थात् यदि तेरी पुकार सुनकर कोई नहीं आता तो अकेला ही चल दे रे......ये तोरे पागल बले, ता रे तुइ बलिस ने कछु, अर्थात् जो तुझे पागल कहे उसे तू कुछ भी मत कह.........आमि फिरबो ना रे फिर बो ना आर फिर बो ना रे, अर्थात् मैं लौटूंगा नहीं रे, अब नहीं लौटूंगा, नहीं लौटूंगा रे। ऐसे अनेक चित्र प्रेरक और श्रुति मधुर गान रचने वाले महाकवि को शत-शत प्रणाम !

गुरुदेव ने गान रचे, कविताएं लिखीं, अनेक कहानियों, उपन्यासों और नाटकों का सृजन किया। जीवन स्पर्शी निबन्ध लिखे, चित्रकला के क्षेत्र में अलग उनकी प्रतिभा अग्रसर हुई। इस प्रकार अपनी बहुमुखी सृजन शक्ति द्वारा वे जीवन पर्यन्त साहित्य और कला की सेवा करते रहे। उनकी रचनाओं में विराट मन और प्रशस्त भाल उभरता है। एक साथ वाल्मीकि और कालीदास की याद आ जाती है। अपने पदचिह्नों से उन्होंने एक समूचे युग को नाप डाला।

उन्हें देख कर मुझे कई बार अनुभव हुआ कि एक साथ हिमालय और गंगा का चित्र सजीव हो उठा है, एक मुक्त वाक युग-पुरुष अंगुली उठा-उठा कर हमें यह चित्र दिखाये जाता है, जैसे पद्मा का पानी सजग हो उठा हो, जैसे युग-युग की भाषा बोल उठी हो, जैसे अतीत और आगत एक सूत्र में पिरो दिये गये हों। गुरुदेव के जीवन काल में ही बंगला साहित्य में दूसरे युग की गति-विधि आरम्भ हो गई थी। काजी नजरूल ने काव्य क्षेत्र में और शरतचन्द्र ने उपन्यास जगत में गुरुदेव से भिन्न प्रकार की सृजन-शक्ति का परिचय दिया। गुरुदेव की महानता यहां भी पीछे नहीं रही। उन्होंने स्वयं अपनी रचना में अपने ऊपर व्यंग्य कसने से संकोच नहीं किया। वे नये युग को आते देख रहे थे।

गुरुदेव साहित्य और कला की शाश्वत परम्परा के प्रतीक थे, देश काल की सीमाओं में बंधे हुए साहित्यिकों और कलाकारों में गुरुदेव को सदैव एक ऊंचा आसन प्राप्त होता रहेगा। 'फाल्गुनी' नाटक में राजा कवि से पूछता है, पर हे कवि, इसका अर्थ तो समझाओगे ना। कवि कहता है, नहीं महाराज। राजा फिर पूछता है, तो फिर? कवि कहता है, अपनी कविता मैं अर्थ समझने के लिए लिखता ही नहीं। वह लिखी जाती है गुञ्जन प्रेरित करने के लिए, हृदय के अन्तःस्थल पर जाकर संवेदन जगाने के लिए।

राजा पूछता है, इसका क्या अभिप्राय? कवि कहता है, बालक जन्म लेता है और तुरन्त रोने लगता है, उस रुदन का अर्थ आप समझते हैं, महाराज। उस समय वह कहता है—मैं आया। महाराज, मेरी कविता भी इसी प्रकार की है।

गुरुदेव का यह स्थिर मत था कि महान काव्य सदैव आनन्द से उद्‌भूत होता है। एक बार उन्होंने कहा था—'साहित्यिक भाषा के माध्यम द्वारा कवि यह तो दिखा सकता है कि प्रकृति मनुष्य के हृदय में और उसके सुख दुख के चारों ओर किस प्रकार प्रकाशित होती है, इससे अधिक कुछ नहीं। क्योंकि वह जिस भाषा में वर्णन करता है उसका एक-एक शब्द उसके हृदय के झूले में लालित-गालित हुआ होता है। यदि कोई भाषा में से उस जीवन को निकाल कर केवल जड़ उपादान के रूप में बदल कर विशुद्ध वर्णन लिख डाले तो इसमें कविता का समावेश नहीं हो सकेगा। मैं सौन्दर्य प्रकाश को साहित्य का उद्देश्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र मानता हूं। हैमलेट का चित्र सौंदर्य का नहीं मनुष्य का चित्र है, ओथेलो की अशान्ति सुन्दर नहीं, मनुष्य के स्वभाव की वस्तु है। प्राकृतिक सौंदर्य में मनुष्य अपने को अनुभव करता है, क्योंकि प्रकृति के सौंदर्य के सम्बन्ध में वह

जितना ही सचेत होगा प्रकृति में उसके हृदय की व्याप्ति उतनी ही बढ़ेगी। किन्तु केवल प्रकृति के सौंदर्य को ही वे कवि की चर्चा का विषय नहीं मानता। प्रकृति की भीषणता और निष्ठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदय की वस्तु है, प्रकृति की वस्तु नहीं। अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्य में स्थान नहीं पा सकता जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिनमें मानव धर्म न हो अथवा जो अभ्यास या अन्य कारण से मनुष्य के साथ निकट सम्पर्क में बद्ध न हो।'

गुरुदेव की एक कविता की कुछ पंक्तियां मेरी कल्पना के तार हिलाने लगती हैं—

तोमार कीर्तिर चेये तुमि जे महत्
ताइ तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय कीर्तिरे तोमार
बारंबार।

तुम अपने यश की अपेक्षा जो महत् हो
इसीलिये तुम्हारे जीवन का रथ
पीछे छोड़ जाता है तुम्हारी कीर्ति को
बारंबार!

: २ :

याद है वह दिन जब सर्वप्रथम गुरुदेव से भेंट हुई थी। उस दिन उन्होंने कहा था, 'तुम जिस पथ के पथिक बनते जा रहे हो, वह बहुत लम्बा है। पर जब एक बार तै कर लिया चलना तो फिर पीछे काहे को हटना।'

याद है वह सांझ, जब मैंने गुरुदेव से कहा था कि मैंने अपनी पुत्री का नाम रखा है कविता, और वे कह उठे थे, 'मैं केवल कवि हूं और यह सिद्ध करने के लिए जब देखो कोई न कोई कविता लिखने की कोशिश किया करता हूं, पर तुम ठहरे

'कविता' के पिता। तुम कोई कविता लिखो न लिखो।'

याद है वह दोपहरी, जब खान अब्दुलगफ्फार खान के सुपुत्र गनी खान के हाथ में तूलिका देख कर गुरुदेव कह उठे थे, 'ये अंगुलियां तो राइफल चलाने के लिये बनाई गई थीं,' और उत्तर में गनी खान ने कहा था, 'गुरुदेव, मैं ऐसा चित्र बनाऊंगा जिसे देख कर हर एक पठान राइफल संभाल कर खड़ा हो जाय।'

याद है वह दिन जब मैं अन्तिम बार गुरुदेव से मिला था, पुरी के गवर्नमैंट हाऊस में, जहां १६४० के आरम्भ में गुरुदेव ठहरे हुए थे। सामने विशाल सागर था। बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं! ये लहरें क्या कह रही हैं? मैंने गुरुदेव से पूछना चाहा। पर जैसे मेरे मन का भाव बूझते हुए वे स्वयं ही कह उठे थे, 'लहरें कह रही हैं कि एक युग जा रहा है, एक युग आ रहा है। कवि तुम विदा क्यों नहीं लेते?'

मैंने कहा, 'अभी तो हमें आपकी आवश्यकता है, गुरुदेव!'

वे बोले—'जब दिन शेष हो जाता है, सूर्य को विदा लेनी ही पड़ती है।'

मैंने कहा—'जो सूर्य अस्त होता है, वही तो अगले सवेरे फिर उदय होता है।'

वे मुसकरा कर कह उठे—'पर सूर्य को जाना ही होता है।'

याद हैं वे शब्द जो गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात् देश के एक राष्ट्रीय नेता ने शान्तिनिकेतन के एक अध्यापक के नाम अपने पत्र में लिखे थे—

'मुझे विश्वास है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा और सारे जनरल, फील्ड,मार्शल, डिक्टेटर और बकवादी राजनीतिज्ञ मर चुकेंगे तथा लोग उन्हें भूल चुकेंगे—गुरुदेव और गांधीजी को लोग याद रखेंगे।' मुझे यह देख कर आश्चर्य होता है कि

अपनी आज की हालत के बावजूद (या शायद इसी की वजह से) एक पीढ़ी के दौरान में ही भारत इन दो महारथियों को पेश कर सका । साथ ही इससे मुझे भारत की गहरी जीवन शक्ति का विश्वास भी हो जाता है और मैं आशा से भर जाता हूं। इस आश्चर्यजनक सत्य के आगे, युगों से चले आये और आज तक के भारत के विचार की अखण्डता के सामने, आज की सामान्य कठिनाइयां और झगड़े बहुत ही तुच्छ और अनावश्यक जान पड़ते हैं। गुरुदेव और गांधीजी दोनों ने, विशेषतया गुरुदेव ने, पश्चिम और अन्यान्य देशों से बहुत कुछ लिया है। दोनों में कोई भी संकीर्ण रूप से राष्ट्रीय नहीं । उनके सन्देश दुनिया के लिए थे और,उसकी युगातीत संस्कृति के उत्तराधिकारी, प्रतिनिधि, तथा प्रतिपादक।'

याद हैं मुक्तहास्य की रेखाएं जो, प्रायः गुरुदेव की मुखाकृति को और भी प्रिय बना देती थीं। याद है गुरुदेव का व्यंग्यपूर्ण हास्य । एक कन्या आकर गुरुदेव का आटोग्राफ़ लेने के लिए मचल रही है। गुरुदेव उस कन्या से उसका नाम पूछते हैं। छवि—यह उस कन्या का प्रिय नाम है। गुरुदेव उस का आटोग्राफ़ बुक में झट से लिख देते हैं—

तोमार नाम छवि, आमार नाम रवि
मिले गैलो छन्द, वेचे गैल कवि

तुम्हारा नाम है छवि, मेरा नाम है रवि
छन्द मिल गया, कवि बच गया !

और सब बात मिथ्या। छन्द मिलने की बात चिरन्तन सत्य है। छन्द के प्रति गुरुदेव सदैव सगज रहे, इसके प्रयोग के अंतिम दिनों तक करते रहे।

बापू का रेखाचित्र

विक्टर ह्यूगो की चर्चा करते हुए कवि स्विनबर्न ने कहा था — 'जीवन में मैं एक ही बार ह्यूगो की प्रतिभा के स्वरूप की उपलब्धि कर सका हूँ।' बचपन में एक बार स्विनबर्न ने देखा कि अचानक समुद्र में भीषण तूफान उठा और बिजली कड़कने लगी। बिजली का अविराम कड़कड़ाहट, तूफान का संघर्ष, और इसके बावजूद आकाश पर स्थिर पूर्ण चन्द्रमा। इसी दृश्य को देखकर कवि कह उठा—'एक ठोस और छोटे प्रतीक के रूप में यही विक्टर ह्यूगो की प्रतिभा की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा है।' गाँधी-जी का चित्र भी कुछ ऐसी ही रेखाओं द्वारा अंकित किया जा सकता है। स्वतंत्र भारत की देशव्यापी अशान्ति के बीचोबीच आज भी उनकी वाणी में शान्ति और मानवता की परिभाषा प्रतिध्वनित हो उठती है। अनशन उनका अन्तिम हथियार है। अनेक बार उन्होंने इसका प्रयोग किया है। इस की सहायता से उन्हों ने हाल ही कलकत्ता में शान्ति स्थापित कर दिखाई। और यह घोषणा तो वे कई बार कर चुके हैं कि यदि वे साम्प्रदायिक दंगों और कत्ले-आम को बन्द न करा सके तो वे

मरण-व्रत रखने से नहीं चूकेंगे।

गुरुदेव कहने से जैसे झट रवीन्द्रनाथ ठाकुर की याद आ जाती है, बापू कहने से झट गाँधीजी का समस्त व्यक्तित्व हमारी आँखों में फिर जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनुपस्थिति इस समय बहुत खटकती है। वे एशिया और यूरोप के सांस्कृतिक संगम की महत्ता सिद्ध करने में संलग्न रहे। गुरुदेव और बापू में इस सांस्कृतिक संगम की महत्ता के सम्बन्ध में कभी मतभेद नहीं हुआ था। बापू तो ठहरे राष्ट्र-पिता। परन्तु बापू और गुरुदेव में चरखे के सम्बन्ध में जरूर एक बार कुछ मतभेद हो गया था। गुरुदेव ने बापू को खूब आड़े हाथों लिया। बापू ने भी करारा उत्तर दिया। रोम्याँ रोलाँ ने गाँधीजी की एक छोटी-सी जीवनी लिखी है। उसमें बापू और गुरुदेव के वे पत्र मौजूद हैं जिनमें ये दोनों महापुरुष एक दूसरे से उलझ गये थे। फिर कभी किसी बात पर बापू और गुरुदेव में मतभेद नहीं हुआ। शान्तिनिकेतन में वह विख्यात तैल-चित्र आज भी मौजूद है जिसमें अफ्रीका से लौटने के पश्चात् बापू की शान्तिनिकेतन यात्रा की स्मृति निहित है। इस चित्र में गुरुदेव, सी० एफ० ऐण्ड्रयूज़ और बापू पास-पास बैठे हैं। इसके पश्चात् भी बापू कई बार शान्तिनिकेतन गये और गुरुदेव की साहित्य-साधना से उन्हें सदैव दिलचस्पी रही। भारतीय इतिहास में बापू के अनशन की वह गाथा भी चिरस्मरणीय रहेगी, जब बापू के जीवन को संकट से बचाने के लिए गुरुदेव स्वयं बापू के पास पहुँचे। बापू के कहने पर गुरुदेव ने अपने मुख से अपना सुविख्यात गान 'जन-गण-मन-अधिनायक' गा कर सुनाया। और इस के पश्चात् जब बापू को विश्वास दिलाया गया कि देश का राष्ट्रीय जीवन उन्हीं के सिद्धान्तों के अनुसार अग्रसर होगा, उन्होंने अपना अनशन तोड़ दिया। फिर तो गुरुदेव ने अन्य

कई गान गा कर बापू के हृदय के तार मधुर गति से हिलाने शुरू कर दिये।

'वन्देमातरम्' और 'जन-गण-मन-अधिनायक' बापू को समान रूप से प्रिय हैं। दोनों गान बंगाल की उर्वरा काव्य-भूमि के परिचायक हैं। इन में बापू को समान रूप से देश के शत-शत जनपदों के हृदय की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। उन्हें जनता के दुःखों को दूर करने के कार्य में संलग्न रखने में सब से अधिक हाथ तो सन्त कवियों की रचनाओं का है। क्योंकि धर्म के अध्ययन और सेवन से उन्हें यही शिक्षा मिली है कि समग्र मानव जाति एक है और भौगोलिक सीमाएँ भी विश्व-व्यापी चिर-सत्य के मुकाबले में एकदम नकली और संकीर्ण हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विश्व-प्रेम का कोई हामी अपनी जन्मभूमि की परतन्त्रता की ओर से आँखें बन्द कर ले। बापू तो इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं कि प्रत्येक काम घर से शुरू किया जाय।

'हिन्दुस्तान छोड़ो' का नारा बुलन्द करने के अपराध में जब बापू सन् ४२ के आंदोलन में जेल चले गये तो यों प्रतीत होने लगा था कि देश का स्वतन्त्रता-संग्राम दब जायगा। परन्तु बापू की आवाज़ देश के वातावरण में बराबर प्रतिध्वनित होती रही। एक बार सुलग कर आग बुझी नहीं थी। गाँधी जयन्ती के अवसर पर कम्यूनिस्ट नेताओं ने भी बापू के व्यक्तित्व का सिक्का मानते हुए यह बात स्वीकार की कि वही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दुस्तान को स्वतन्त्रता की भाषा प्रदान की।

'आज हिमालय भी नीचा है तेरी ऊँचाई के आगे'—यह एक आधुनिक हिन्दी कवि की आवाज़ है। बापू के प्रति अनगिनत देशवासियों की यही भावना प्रतीत होती है। हिमालय-आरोही के समक्ष खुलते हुए एक के पश्चात् एक ऊँचे शिखरों

की भाँति बापू के सामने अनेक कीर्ति-शिखर उठते चले गये। बापू इन शिखरों को पार करते हुए सबसे ऊँचे शिखर पर जा खड़े हुए। 'अतीत की पूज्य भावना' 'अविचल बुद्ध प्रतिज्ञा', 'भविष्य का भाग्योदय', 'वर्तमान की हलचल'—ऐसी रेखाओं द्वारा आधुनिक कवि बापू का चित्र अंकित करना चाहता है। ये सभी रेखाएँ साबरमती के तपस्वी और सेवाग्राम के सन्त का वास्तविक स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं।

रोम्याँ रोलाँ ने सन् १९२१ में बापू के व्यक्तित्व की चर्चा सुनी। इस के पश्चात् अपनी बहन मेडलीन की सहायता से उन्होंने बापू की एक जीवनी लिख डाली जिसके समर्पण में उन्हों ने लिखा—'गौरव और गुलामी की भूमि को, अस्थायी साम्राज्यों और गौरवपूर्ण विचारों की भूमि को, समय का प्रतिरोध करने वाले लोगों को, नवजाग्रत हिन्दुस्तान को!' यदि आज रोम्याँ रोलाँ जीवित होते तो वे अवश्य स्वतन्त्र हिन्दुस्तान में बापू से भेंट करने आते।

रोम्याँ रोलाँ पर अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा और बापू के प्रति उनकी आस्था विश्व-इतिहास की एक चिर-स्मरणीय वस्तु बन गई। एक स्थान पर रोलाँ ने लिखा—'मैं क्रान्ति का समर्थन करता हूँ। पर हिंसा की उपेक्षा करके विजयी होने वाली क्रान्ति की ही मैं कामना करता हूँ। रूसी क्रान्ति का मैं मित्र हूँ, क्रान्ति से उत्पन्न रूस के विरोधियों का मैं शत्रु हूँ। पर हिंसा और रक्तपात का शंखनाद करके जिस रास्ते से विप्लव को लाया गया है, वह मेरा नहीं है।' आज भी जब कि देश में हिंसा के स्वर उभर रहे हैं, बापू की समस्त शक्ति अहिंसा के सिद्धान्त पर केन्द्रित है।

दूसरी गोलमेज़ कांन्फ्रेन्स के अवसर पर गुजरात के सुविख्यात लोकगीत संग्रहकर्त्ता झवेरचन्द मेघाणी ने लोकगीत

सरीखे स्वरों में एक गीत छेड़ दिया था—'छेल्लो कटोरो झेर नो आ पी जंजे बापू !' इसके सम्बन्ध में स्वयं बापू ने कहा था—'मेरे मन के भाव बिल्कुल ऐसे ही थे जैसे मेघाणी के गीत में।' आज कवि मेघाणी इस संसार में मौजूद नहीं। अतः किसी दूसरे ही कवि को स्वतन्त्र हिन्दुस्तान में बापू के वास्तविक महत्त्व पर अपनी लेखनी आज़मानी होगी। याद नहीं आ रहा कि उस कवि का क्या नाम है जिसने कहा है कि प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि के मार्ग चिंता की ओर ले जाने वाले हैं। बापू की और बात है। उनका नाम आज देश-विदेश में शायद सबसे अधिक लोकप्रिय है, और यदि सचमुच इस वर्ष शान्ति पर मिलने वाला नोबल पुरस्कार बापू ही के लिए तै हुआ तो उनकी प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि और भी बढ़ जायगी। गुरुदेव ने गीतांजलि पर नोबल पुरस्कार मिलते ही सब रुपये शांतिनिकेतन को दे डाले थे। बापू भी पुरस्कार के रुपये अपने पास थोड़े ही रखेंगे। साफ बात है। ये रुपये सीधे हरिजन फंड में चले जायंगे !

गुरुदेव ने एक बार शान्तिनिकेतन में गांधी-जयन्ती के अवसर पर कहा था—'जब हम प्रादेशिकता के जाल में फंस कर और दुर्बलता से अभिभूत होकर पड़े हुए थे, उस समय रानडे, सुरेन्द्रनाथ, गोखले आदि महाशय पुरुष जनता का गौरव बढ़ाने के लिए आये। उन्होंने जिस साधना का आरम्भ किया, उसे प्रबल शक्ति से, द्रुत वेग से, विलक्षण सिद्धि के पथ पर जिन्होंने अग्रसर किया, उन महात्मा के स्मरण के लिए आज हम यहाँ एकत्र हुए हैं—वे हैं महात्मा गांधी।' एक और स्थान पर अहिंसा और सत्याग्रह की महत्ता की ओर संकेत करते हुए गुरुदेव ने कहा था—'यह अनुशासन कि मैं मरूंगा तो भी मरूंगा नहीं और इसी तरह विजय पाऊँगा, एक ज़बर्दस्त बात है, एक महान् वाणी है। यह चातुरी या कार्यसिद्धि के लिए

दिया हुआ परामर्श नहीं है। धर्म-युद्ध बाहरी विजय के लिए नहीं है, हारने पर भी विजय प्राप्त करने के लिए है। अधर्म-युद्ध में जो मर गया सो मर ही जाता है। परन्तु धर्म-युद्ध में मरने पर भी अवशिष्ट रह जाता है। हार से ही जीत होती है, मृत्यु से ही अमृतत्व प्राप्त होता है। जिन्होंने अपने जीवन में इस सिद्धान्त को स्वीकार और अनुभव किया है, उनकी बात सुनने के लिए हम बाध्य हैं।' गुरुदेव ने १३ दिसम्बर, १९४० के दिन उत्तरायण में बैठकर एक कविता लिखी, जिसका शीर्षकहै 'गान्धि महाराज'। पेंसिल के गिने-चुने स्पर्शों से ही कवि ने बापू का चित्र अंकित करने का यत्न किया है—

गान्धि महाराजेर शिष्य
केउ वा धनी केउ वा निःस्व,
एक जायगाय आछे मोदेर मिल,
गरिब मेरे भराइ ने पेट,
अमीर कांछे हइ ने तो हेंट,
आतंके मुख हय ना कभु नील।
पण्डा जखन आसे तेड़े
ऊँचिये घुषि डाण्डा नेड़े
आमरा हेसे बलि जोयानटांके
ए जे तोमार चोख रांगानो
खोका बाबूर घूम भांगानो
भय न पेले भय देखावे काके।
सिधे भाषाय बलि कथा,
स्वच्छ ताहार सरलता,
डिप्लमैसिर नाइको असुविधे;
गारदखानार आइनटा के
खूँजते हय ना कथार पाके,

जेलेर द्वारे जायसे निये सिधे ।
दले दले हरिण बाड़ि
चलल जारा गृह छाड़ि
घूचले ताहरे अपमानेर शाप,
चिर कालेर हातकड़ि जे
धूलाय खसे पड़ल निजे,
लागल भाले गान्धी राजेर छाप ।

अनुवाद—

'गांधी महाराज के जो शिष्य हैं उनमें कोई धनी है कोई निर्धन। एक जगह हमारा मेल है। हम गरीब को मार कर पेट नहीं भरते, और न हम अमीर के सामने सिर झुकाते हैं। न किसी के आतंक से हमारा मुँह नीला पड़ जाता है। जब सिपाही दौड़ कर आते हैं, घूँसा उठाकर और डंडा घुमा कर, तो हम इन मर्दों से कहते हैं—ये जो तुम्हारी आँखें लाल हो रही हैं ये केवल बच्चों की आँखों से नींद भगाने मात्र के लिए ही हैं, हम डरेंगे नहीं तो तुम किसे डर दिखाओगे? मैं सीधी भाषा में बात कहता हूँ कि उनकी सरलता स्वच्छ है। इसमें डिप्लोमैसी की कोई असुविधा नहीं है। जेलखाने के क़ानून को ये लोग बात के पेच निकाल कर नहीं देखते। वे तो इसे सीधे जेल के द्वार तक ले जाते हैं। जब दल बाँध-बाँध कर हिरन घर छोड़-छोड़ कर चल पड़े तो उनके लिए अपमान का अभिशाप खत्म हो गया। जो चिरकाल की हथकड़ी है वह तो आप ही आप खुल कर धूल पर गिर पड़ी, और उनके माथे पर गांधी-राज की छाप लग गई।'

सन् १९०९ में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर गोखले ने 'आदमियों में आदमी गांधी' का स्वागत करते हुए कहा था—'यह मैं अपनी ज़िन्दगी की खास नियामतों में से समझता हूँ

कि श्री गांधी से मेरी घनिष्ठता है........वे एक ऐसे आदमी हैं जिनके लिए हम कह सकते हैं कि आदमियों में आदमी हैं...
सन् १९१० में लियो टाल्स्टाय ने अपने एक पत्र में गांधीजी को लिखा—'समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद, मुक्ति सेना, अपराधों को संख्या में वृद्धि, बेकारी, धनाढ्यों की बढ़ती हुई मतवाली विलासिता और ग़रीबों की दीनता, आत्मघातों की संख्या में भयंकर वृद्धि—ये सब उस आंतरिक विरोध के लक्षण हैं जिसका परिहार हमें करना है; और जिसका परिहार अवश्य होने ही वाला है। हिंसा का त्याग और अहिंसा धर्म को स्वीकार करने ही से इस विरोध का परिहार होगा। इसलिए संसार के इस कोने से हमारे ट्रॉंसवाल में आपने जो कुछ कर लिया है वह आज दुनियाँ का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता है जिसमें सिर्फ़ ईसाई दुनियां ही नहीं तो अखिल संसार के सभी राष्ट्र अवश्य शामिल होंगे।' सन् १९१८ में लोकमान्य तिलक ने लिखा—'श्रेष्ठ और उदार व्यक्तियों की जीवनियाँच रित्र-विकास में उपयोगी होती हैं। अतः महात्मा गाँधी की जीवनी इस व्यापक दृष्टि से सभी पढ़ें ऐसी हमारी सिफारिश है।'.....
इस समस्त प्रशंसा का एक ही कारण है; बापू की साधना सत्य की है और मिथ्या की दाल उनके यहाँ कभी नहीं गल सकती। वे हिन्दुस्तान की युग-साधना के प्रतीक हैं. क्योंकि वे सब अवस्थाओं में सत्य को हाथ से नहीं जाने देते। देश-देश में स्वतन्त्रता का इतिहास रक्त में सना हुआ नज़र आता है। बापू का पथ और है। इसी पथ पर चलकर देश ने दो सौ वर्ष की ग़ुलामी के बाद आज़ादी का स्वागत किया।

बापू को ख़ब्ती कहने वाले लोगों की भी काफ़ी गिनती है जिनका हिंसा में विश्वास है, वे भला बापू की बातों का मूल्यां-कन कैसे कर सकते हैं। जहाँ पशुबल ही विधान है, वहाँ बापू के

क़दरदान नहीं मिलेंगे। बापू के यहाँ दार्शनिक और सन्त में परस्पर ग़लतफ़हमी के लिए तनिक भी स्थान नहीं। श्री पट्टाभि-सीतारामैया ने लिखा है—'गांधी की शिक्षा से नशेबाज़ ने नशा छोड़ दिया है। उनकी दैवी आसीस से वेश्या गृहलक्ष्मी बन गई है। उनके निदर्शन से प्रमादी श्रमी हो गया है······उनकी जिह्वा के एक संकेत ने दलित को उबार लिया है, उनकी एक सांस ने नारी को, जो घरेलू चल-सम्पत्ति/ समझी जाती थी समाज के विवेकमय और उत्तरदायी सदस्य में परिवर्तित कर दिया है······वे ग्रामों में पुनर्जीवन चाहते हैं, पर सभ्यता की आदिम अवस्था की ओर लौटना नहीं चाहते······वे ब्रिटेन से लड़ते हैं, पर अंगरेज़ से मैत्री करते हैं।'

बापू के साथ स्वतन्त्रता की चर्चा कर देखिए, वे झट कह उठेंगे कि जहाँ आपके पड़ोसी की स्वतन्त्रता शुरू होती है वहीं आपकी स्वतन्त्रता की सीमा है। यही अहिंसा का आधार है, वे साफ़-साफ़ कह देंगे। प्रभाव और चीज़ है, अधिकार और। क़ानून और चीज़ है, न्याय और। ज्ञान और चीज़ है, संस्कृति और। बापू कभी रास्ते में ही नहीं भटकना चाहते। वे सत्य की खोज में सदैव अग्रगामी रहते हैं। वे अपनी विचार-शक्ति को प्रतिदिन के कार्यों में माला के धागे की भाँति पिरोते चले जाते हैं। यही उनकी सफलता की कुंजी है। सेवा ही उपासना है, ऐसा वे मानते हैं। बलिदान ही मुक्ति का द्वार खोलता है, यही उनका मूल-मन्त्र है।

बापू की लेखनी की देश-देश में धाक बँध चुकी है। उनकी वाणी का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु उनका मौन लेखनी और वाणी से कहीं बढ़कर है। श्रीसीतारामैया की यह बात कि बापू की दृष्टि एक्स-रे की भांति आपके हृदय तक पहुँच जाती है, सोलह आने ठीक है। उनकी मुसकान का भी सीधा

प्रभाव पड़ता है। वे घुमाकर बात नहीं करते। उनकी फैलती सिमटती आँखें आपको नव-जगत् का स्वर दिखाने लगती हैं। लाखों की भीड़ में जब बापू की अंगुली उठ जाती है तो भयंकर कोलाहल नीरवता के आँचल में सिमट जाता है। उनकी एक ही व्यंग्योक्ति बड़ों-बड़ों के दिल दिमाग़ हिलाकर रख देती है। क्योंकि आसानी से कोई उनकी निगाह से बच नहीं सकता।

बुद्ध के पश्चात् हिन्दुस्तान के इतिहास में गाँधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिनके चेहरे पर बुद्ध की-सी शान्ति प्रत्यक्ष हो उठी है। यों लगता है कि यह शांति अथाह सागर की एक लहर है। जो लहर अनेक लहरों में सिमटती समाती रहे उसकी सीमा या पूर्णता का हिसाब कोई क्यों कर लगाये ?

फ़ुलॉप मिलर ने बापू के कला विषयक विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है—'किसी जमाने में बुद्ध के सम्मुख जिस तरह मानव-प्राणी की वेदना अपना घूँघट खोल कर खड़ी हो गई थी, उसी तरह अब वह गाँधी के सामने खड़ी हो गई है। इसलिए वे अपनी भावनाएं और शक्तियाँ ऐसे किसी उद्योग में ख़र्च नहीं कर सकते जो भूखों को खिलाने में, नंगों की काया ढाँकने में और दुखियों को ढाढस बँधाने में प्रत्यक्ष रूप से सहायक न हो।'......कला को बापू सदैव उपयोगिता की कसौटी पर परखते हैं। सन् १६३६ में अहमदाबाद में गुजराती साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए गाँधीजी ने कहा था—'रविशंकर रावल जैसे कलाकार अहमदाबाद में बैठे-बैठे ब्रुश चलाया करते हैं, लेकिन गाँवों में जाकर वे क्या करेंगे ? आज मैंने उनकी प्रदर्शनी देखी और देखकर मेरी वाणी फूल उठी, क्योंकि इससे पहले ऐसे चित्र यहाँ नहीं थे.....चित्रों को तो मुझ से बातें करनी चाहियें, मेरे सामने नाच उठना चाहिये। ऐसे चित्र तो दुनिया में बहुत

ही थोड़े हैं। रोम के पोप के संग्रह में मैंने एक मूर्त्ति देखी थी जिसे देखते ही मैं स्तम्भित हो गया था। और वह मूर्त्ति थी सूली पर लटके हुए ईसामसीह की। उसे देखकर आदमी दंग रह जाता है……लेकिन वह तो परदेश की बात हुई। कुछ ही वर्ष पहले मैं वेलूर गया था। वेलूर मैसूर में है। वहाँ के एक पुराने मन्दिर में मैंने स्त्री की एक प्रतिमा देखी जो नग्नावस्था में खड़ी थी। उसे किसी ने मुझे दिखाया नहीं, बल्कि मेरा ध्यान एकाएक उस तरफ़ चला गया और मैं ठिठक गया। मैं यहाँ नग्न दशा में खड़ी हुई स्त्री का वर्णन नहीं करना चाहता, लेकिन उस चित्र का जो भाव मैं समझ सका हूँ, वही सुनाता हूं। उसके पैरों के पास एक बिच्छू पड़ा हुआ है। उसका शिल्प-कवि अश्लीलता का उपासक नहीं था। इसलिए उसने अपनी प्रतिमा को कपड़े से कुछ ढँक रखा है। काले संगमरमर की वह एक काली मूर्त्ति है जिसे देखते ही ऐसा मालूम होता है, मानो रम्भा-सी कोई अप्सरा खड़ी छटपटा रही है। यहाँ तो मैं उसका गंवारू वर्णन कर रहा हूँ। मैं बड़ी देर तक तो उसे देखता ही रहा। वह अपनी देह पर पड़े हुए कपड़ों को झटकार रही है। कला को जीभ की ज़रूरत नहीं होती। मैंने सोचा साक्षात् कामदेव बिच्छू बनकर बैठा है और उस बाला की देह से आग-सी झड़ रही है। कवि ने काम की विजय दिखाई है, लेकिन उस स्त्री ने आखिर अपने कपड़ों में से उसे झटकार ही डाला है और उसे अपने ऊपर विजयी नहीं होने दिया है। उस स्त्री के एक-एक अंग पर उसकी वेदना लिखी हुई है। रविशंकर उसका कैसा भी अर्थ क्यों न करें, उनका वह अर्थ झूठा है और मेरा गँवारू अर्थ सच्चा है।'

हैदराबाद (दक्षिण) में प्रेमचन्द सोसाइटी का निर्माण होने पर राजकुमारी अमृतकौर ने सोसाइटी के कार्यकर्त्ताओं के नाम

यह संदेश भेजा—'प्रत्येक शुभ कार्य के लिये गाँधीजी का आशीर्वाद है।'

बापू का विनोदी स्वभाव विख्यात है। एक बार सेवाग्राम में कुछ अमरीकन पत्रकार बापू से मिलने आये। बाहर खूब लू चल रही थी और आकाश से आग बरस रही थी। वर्धा के ढीले-ढाले ताँगों पर बैठ कर बेचारे अमरीकन पत्रकार पसीने से तर हो कर बापू के पास पहुँच पाये थे। बापू उन्हें देखते ही बोले—'आइए, आप लोग तो एयर कंडिशंड कोच में आये होंगे न !' और सब जोर से हँस पड़े......उनके विनोद का पार नहीं। १६४४ में उनकी ७५ वीं वर्षगाँठ के समारोह पर, जब कि कस्तूरबा स्मारक फण्ड के ट्रस्टियों ने फैसला किया कि अस्सी लाख रुपये की रकम श्रीमती सरोजिनी नायडू अपने हाथ से बापू को भेंट करें, थैली भेंट करते समय सरोजिनी देवी कह उठीं—'बापू, मैं यदि यह रकम लेकर चलती बनूं, तो !' 'तो क्या आश्चर्य ! मैं जानता हूँ कि तुम ऐसा कर सकती हो !' बापू ने हँस कर कहा और एक मीठा स्नेह भरा थप्पड़ सरोजिनी देवी के जड़ दिया। चारों ओर हँसी का फव्वारा फूट पड़ा।

परन्तु आज बापू के चेहरे पर वेदना की रेखाएँ क्यों उभर रही हैं ? उनकी आवाज़ रुँधी हुई क्यों हैं ? वे कलकत्ता से विजयी हो कर दिल्ली आये हैं। वे बार-बार नगर के उन भागों में जा रहे हैं जहाँ हाल ही में लोगों के रक्त से सड़कें लाल हो गईं। उन्होंने लाशों से भरी हुई गलियां देखीं और उनका हृदय विदीर्ण हो गया। क्या इसी दिन के लिए 'राम राज' का स्वप्न देखा था ? यही स्वतन्त्रता है तो इसे दूर ही से सलाम। अभी-अभी रेडियो पर उनकी प्रार्थना सभा के भाषण का रिकार्ड सुनाया जा रहा है। बापू की आवाज़ में आज युग की वेदना सिमट आई है। वे शरणार्थियों के अस्सी या सत्तानवे मील

काफ़िले का ज़िक्र कर रहे हैं, जो पच्छिमी पंजाब से चल कर पूर्वी पंजाब की ओर आ रहा है। बाइबिल के पन्ने पलट डालो, वे कह रहे हैं कहीं भी इतने लम्बे काफ़िले का ज़िक्र नहीं मिलेगा। संसार के इतिहास में यह पहली दुःख-गाथा है······ और बापू की आवाज़ की पृष्ठ भूमि में रोते हुए बच्चों का शोर उभर रहा है। यह उस दुःखान्त का प्रतीक है जिस की ओर बापू देश का ध्यान खींच रहे हैं। जलियाँवाले बाग में हिन्दू सिख और मुसलमान का खून एक साथ बहा था, वे कह रहे हैं, फिर आज यह दुःखान्त क्यों? युग-युग के पड़ोसी आज कैसे बिछुड़ने पर मजबूर हो गए? बाप दादा के घर छोड़ कर लोग कहाँ जायँ? और जाँय भी तो काहे को। मानवता तो एक ही है। न्याय तो एक ही है······अब क्या होगा? लोग पूछते हैं, देशद्रोहियों को कोई कैसे घर में रखे? अरे रे, क्या सारे के सारे साढ़े चार करोड़ मुसलमान, जो हिन्दुस्तान में रह गये हैं, देशद्रोही बन जायेंगे?

बापू की आवाज़ शोर में दब रही है। अब क्या होगा? हर कोई यही पूछ रहा है।

यामिनीराय

पश्चिमी बंगाल के बांकुड़ा जिले के अन्तर्गत एक सम्पन्न ग्राम में यामिनीराय का जन्म हुआ। वहीं उन्होंने अपने शैशव-काल में ग्रामीण शिल्पकारों को शत-शत पीढ़ियों से चली आती कला-परम्परा की साधना करते देखा। 'बंगाल की यह कला-परम्परा, जो कभी एक-एक ग्राम में जीवित थी, उन्नीसवीं शती तक केवल वीरभूम, बांकुड़ा और मेदिनीपुर के जिलों में ही बची रह गई थी'—यह बात कहते समय यामिनीराय की आंखें एक अपूर्व गर्व से चमक उठती हैं।

किस प्रकार वे अपने ग्राम से आने के पश्चात् कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट में प्रविष्ट हुए और यूरोपीय शास्त्रीय शैली में शिक्षा पाते रहे, जीविका-निर्वाह के लिए किस प्रकार, वे अनेक वर्षों तक शौकीन धनियों के रीतिगत चित्र (पोर्ट्रेट) बनाते रहे—यह एक लम्बी कहानी है। पर जिस बात पर हर किसी को आश्चर्य हो सकता है वह है यामिनीराय का दिशा-परिवर्तन। इसकी पृष्ठ-भूमि में झांकने की इच्छा बलवती हो उठती है।

वस्तुतः किसी भी कलाकार के चोला बदलने की घटना अकस्मात् तो नहीं हो सकती। एक न एक रूप में इसे बांकुड़ा जिले की कला-परम्परा की विजय अवश्य कहना होगा। किस चोर-दरवाज़े से यामिनीराय के जन्मग्राम की कला उनके मानस के भीतर तक चली आई, यह प्रश्न पूछने को जी चाहता है। पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बांकुड़ा की कला-परम्परा सदैव यामिनीराय के मन की अर्ध-चेतन गहराइयों में निहित रही और अवसर पाकर सजग हो उठी। इसके यों सजग हो उठने की घटना भी तो अकस्मात नहीं हो सकती। कदाचित् 'पोर्ट्रेट' चित्र अंकित करते समय यामिनी राय को कभी सन्तोष नहीं मिला। धन अवश्य मिला। पर निरे धन से तो सच्चा कलाकार सन्तुष्ट नहीं हो सकता। कलाकार को चाहिए प्रेरणा—एक जीती-जागती प्रेरणा। कदाचित् वे अनेक वर्षों तक तैल-चित्र प्रस्तुत करते समय कभी-कभी इस शैली के 'विदेशीपन' पर मन ही मन नाक-भौं चढ़ाया करते थे। कदाचित् वे अनेक बार इस शैली और धन्धे को छोड़ बैठने के लिए तैयार हो गये हों। पर पेट मांगता था भात, और इसके लिए धन अवश्य चाहिए। आखिर एक दिन वे इस निर्णय पर पहुंचे कि देश की अधकचरी आधुनिक संस्कृति के ऊपर यूरोपीय उस्तादों की परम्परा को ज़ोर-ज़बरदस्ती से लादना व्यर्थ है, क्योंकि दिन के प्रकाश में नहीं रात के समय कृत्रिम रोशनी में ही इनकी सुन्दरता ठीक-ठीक उभरती थी। क्यों न अपने ही देश के बने हुए रंग लेकर चित्र बनाये जायं? क्यों न वही रंग लिए जायं जो स्वयं लोक-जीवन में नज़र आते हैं? क्यों न लोक-संस्कृति को ही चित्रों में प्रधानता दी जाय? ये प्रश्न थे जो यामिनीराय के मन को झंझोड़ रहे थे जब उनकी कूंची उन की प्रयोगशील अंगुलियों में बड़ी तेज़ी से घूम रही थी।

घर वाले घबराये अवश्य। क्योंकि उनकी दृष्टि में यामिनी-राय बड़ी भूल कर रहे थे। घर खर्च मांगता है। खर्च कहां से किया जायगा? तैल-चित्रों के ग्राहकों को लौटा दिया जाय और सारा समय ऐसे-चित्रों की सृष्टि में लगा दिया जाय जिनकी कहीं बिक्री नहीं हो सकती। यह सब बहुत कठिन था, और नहीं तो पुरानी साढ़ी के पल्लू को काटा जा रहा है। इस पर चित्र बनेगा। वाह साहब! यों ही साढ़ी को नष्ट कर डाला। अभी तो यह कुछ दिन काम दे सकती थी। नई साढ़ी आती नहीं, पुरानी साढ़ियां नष्ट की जा रही हैं। अच्छी चित्रकला है। जिस का कोई ग्राहक नहीं, वह दुकान आज नहीं तो कल उठ जायगी। यह दुकान ज्यादा दिन नहीं चलने की। इस पर ताला लगेगा। बाप रे, यह तो पागलपन है। घर पर इस प्रकार की आलोचना की जा रही हो, और बाहर वालों में भी व्यर्थ शोर उठ रहा हो। इस कोलाहल के बीचोबीच यामिनीराय की दृष्टि सदैव अपने जन्मग्राम की गलियों में जाकर टिक जाती और उनकी कूंची और भी तेजी से चलती, रंग उछलते नाच नाच उठते।

वस्तुतः वे बड़े संघर्ष के वर्ष थे जब यामिनीराय की कला में दिशा-परिवर्तन हुआ। उनकी आयु पैंतीस वर्ष से ऊपर थी। घटने दो घर का खर्च, सिर पर पड़ने दो मालिक मकान का किराया, कभी तो आने लगेंगे थोड़े पैसे इन चित्रों से भी—इस विचार से संघर्ष की कठिनाई को कम करके देखने का यत्न किया जाता।

सन् १६३४ में जब मैं पूछते-पूछते उत्तरी कलकत्ता की एक गली में स्थित एक सादे-से घर में यामिनीराय की चित्रशाला देखने गया, मुझे कलाकार से मिल कर बड़ी खुशी हुई। मैंने अनेक चित्र देखे। वे एक-एक चित्र का इतिहास बतलाते रहे।

एक कला-पारखी के रूप में नहीं, एक रसिक के रूप में ही मैं इन चित्रों का आनन्द लेता रहा।

मैंने कहा—'ये चित्र तो खैर किसी प्रदर्शिनी में भी देखने को मिल सकते थे पर आप सरीखे कला-स्रष्टा से मिलने का आनन्द तो यहीं मिल सकता था।'

वे बोले—'मेरे प्रयोग अभी चल रहे हैं।'

'चलने दो'—मैंने हंस कर कहा, 'कूंची जिधर जाना चाहती है उसे उधर ही जाने दो। कूंची को रोकना या जोर-जबरदस्ती से उसे उसके मार्ग से हटाना तो किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं।'

'मैं बस ये रंगों के खेल-खेल रहा हूं,' वे फिर हंस कर बोले, 'अब मैं कूंची को अपने साथ नहीं चलाता, अब तो कूंची ही मुझे अपने साथ चला रही है।'

मैंने कहा—'इन चित्रों की चित्रात्मकता ही इनके सौन्दर्य-बोध में सहायक हो सकती है।'

इस पर उन्होंने 'पटुवा' पट पर चित्र अंकित करने वाले ग्रामीण शिल्पकारों की कहानी छेड़ दी। बोले—'कालीघाट के 'पट' शिल्पी आज भी हमें बहुत कुछ सिखा सकते हैं।'

मैंने कहा—'मैंने उनके चित्र भी देखे हैं। पर आपके चित्र उन के समीप होते हुए भी उनसे बिलकुल अलग हैं। इन पर आपकी अपनी छाप है जिसके बिना किसी भी कलाकार की कृति में हमें आनन्द नहीं आ सकता।'

× × ×

अभी उस दिन एक कलाकार मित्र से भेंट हुई जिनकी ज़बानी पता चला कि किस प्रकार यामिनीराय की कला ने चोला बदलने का निर्णय किया। उनके सुपुत्र को 'पट' शैली के चित्र अंकित करने का शौक था। जब उसकी मृत्यु हो गई तो

यामिनीराय इस आघात से बचने के लिए उसके अंकित किये चित्रों को बड़े ध्यान से देखने लगते। कई बार उन का मन विचलित हो उठता। वे एक-एक करके कई चित्रों को गंगा में विसर्जन कर आए। और एक दिन ऐसा ही एक चित्र अंकित करने के विचार से वे कूंची और रंग लेकर बैठ गये। बस इस प्रकार यह घटना दिशा-परिवर्तन का कारण बन गई। सुनाने को तो मेरा कलाकार मित्र यह बात सुना गया। पर साथ ही उस ने ताकीद की कि इसे लिखना मत। मैंने सोचा यदि यह केवल किम्वदन्ति ही हो तो भी इस का कुछ-न-कुछ महत्त्व अवश्य है। क्योंकि इस में एक चित्र निहित है।

इस मित्र ने यह भी बताया कि एक बार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने यामिनीराय के कन्धे पर हाथ रखते हुए बड़े गर्व से कहा था—'तुमि जानो न बाबा तुमि कि कोरते पारो !'—(तुम जानते नहीं बाबा, कि तुम क्या कर सकते हो !) उस समय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने जामवन्त की चर्चा की, जिसने हनुमान से कहा था—'तुम पवन-पुत्र हो। तुम समुद्र लांघ सकते हो।' कलाकार को भी एक समुद्र लांघना होता है। कोई उसमें इतना आत्म-विश्वास भर दे, यह उसका सौभाग्य ही तो होता है !

कहते हैं एक बार अपने शिष्य नन्दलाल बसु को साथ लेकर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कालीघाट देखने गए। वहां उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति अपनी बूढ़ी माता को पीठ पर उठाये चला आ रहा है। अवनीन्द्र बाबू बोले—'देखो, नन्द, इसी प्रकार देश की कला को अपने कन्धों पर ढोकर चल सको तो कहो !' फिर उन्होंने अपने शिष्य को 'पटुवा' शिल्पियों की कला दिखाई और कहा—'बोलो मुझे क्या गुरुदक्षिणा दोगे ? मैं ऐसी-वैसी गुरुदक्षिणा नहीं लूंगा। तुम इन पटुवा-शिल्पियों के चरणों में बैठ कर, इन्हीं के रंगों के, इन्हीं की कूंची के चित्र बनाओ और

उन्हें बेच कर कुछ दिन गुजारो, इसी कमाई से थोड़े पैसे बचा कर मेरी गुरुदक्षिणा चुकाओ। तब मैं समझूं कि तुम मेरे सच्चे शिष्य हो।' कहते हैं नन्द बाबू कुछ दिनों के लिए गुम हो गये, और अवनीन्द्र बाबू के लाख खोजने पर भी उनका कुछ पता नहीं चला था और फिर एक दिन नन्द बाबू ने आकर गुरु के चरणों पर पैसे ला रखे और पटुवा-शैली के कुछ चित्र भी। गुरु की आत्मा गद्गद् हो गई।

मैंने सोचा कि जब अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने यामिनीराय के चित्रों पर अपनी सम्मति देते हुए जनता के इस कलाकार को प्रोत्साहन दिया होगा तो नन्द बाबू द्वारा अंकित उन 'पट' चित्रों की याद भी ताजा हो गई होगी। अपनी पुस्तक 'बांगलार व्रत' में प्रस्तुत किये हुए आल्पना चित्रों की राशि भी उन की नजरों में अवश्य उभरी होगी। सुनयनीदेवी द्वारा अंकित चित्रों की स्मृति भी अवश्य ताजा हो गई होगी जिनमें 'पट' चित्रों की प्रेरणा उन्हें पहली बार दृष्टिगोचर हुई थी। शायद उन्होंने सोचा होगा कि जो और कोई न कर सका वह यामिनीराय कर रहे हैं और इस मार्ग पर चलते हुए वे बहुत दूर तक जय-पताका उड़ायेंगे, दूर तक कला-प्रतिष्ठा और सौंदर्य-बोध का प्रसार करेंगे।

× × ×

यामिनीराय की चित्रशाला में प्रवेश करते ही एक कला-पारखी कह उठे—'आप की नई कृति कौन-सी है?'

यामिनीराय ने मिट्टी का एक बरतन उठा कर दिखाया जिस पर एक चित्र अंकित था और कहा—'यह मेरी नवीनतम कृति है और यही शायद सर्वोत्तम भी है।'

आगंतुक ने कहा—'पर यहीं से तो आपने आरम्भ किया था।'

वे बोले—'आरम्भ और अन्त एक ही तो होते हैं।'

इस आरम्भ और अन्त में भेद न देखने की प्रवृत्ति द्वारा ही यामिनीराय ने कला-परम्परा को आगे बढ़ाया है। अनेक प्रयोगों में कभी आगे जाकर और कभी पीछे लौट कर उन्होंने सरलीकरण का नया अभ्यास जारी रखा। अभी फूल गूँथती हुई संथल स्त्रियों का चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है, अभी क्षीण-काय मां और पुत्र का चित्र अंकित कर दिया गया। रंगों को समान वज़न देने की ओर यामिनीराय ने अपनी सफलता के आरम्भिक युग में ही विशेष ध्यान दिया था। रंगों का कुछ ऐसा उपयोग, जिस से उन का उभार दर्शाया जा सके, इस कला में यामिनीराय की कूंची ने कभी भूल नहीं की।

श्री विष्णुदे ने लिखा है—'चित्र में उभार प्रदर्शित करने के प्रश्न को मूर्तिमत्ता के प्रश्न से यामिनीराय ने कभी नहीं उलझाया, न उन्होंने यही भूल की कि लघु-चित्रपटों के अंकन को भारतीय परम्परा की एकमात्र शैली के रूप में स्वीकार कर लें। मूल आकारों (बेसिक फार्म) की खोज और रंगों के समवितरण के प्रयोग उन्हें बंगाल की देहाती गुड़ियों की ओर खींच ले गये। उन्होंने बच्चों की विशुद्ध आकार-कल्पक (आईडियोप्लास्टिक) दृष्टि का अनुकरण किया और आदिवासियों के गहरे रंग-विधान को अपनाया। इसी प्रकार हम पाते हैं कि उन्होंने सरलीकरण के प्रयोगों को यहां तक बढ़ाया कि राख के (ग्रे) रंग की (जो कि विस्तृत शून्य का रंग है और रंगों में सब से कम पर-निर्भर है) पृष्ठभूमि पर काजल की रेखाओं से काम लिया, और इन्हीं से पैनी दृष्टि और कुशल कलाई के सहारे वस्तु के उभार का अंकन किया—वस्तु चाहे 'युवती' अथवा 'मां और शिशु' अथवा 'वृद्ध' हो। उभार का यह चित्रण तलों (प्लेन) के उपयोग से नहीं, प्रवहमान रेखा के चाक्षुप बोध के सहारे ही किया गया।

जिन की आँखें फारसी चित्रकला के बारीक अंकन अथवा फोटो के स्थूल प्रतिचित्रण की अभ्यस्त हैं, उन्हें भले ही इन चित्रों में ठोसपन न दीखे।'

उभार और डौल यामिनीराय के सौन्दर्य-बोध की विशेषताएं हैं। उनकी कूंची को रीतिबद्ध कह कर उसकी अवहेलना करना सहज नहीं क्योंकि इस कूंची द्वारा प्रस्तुत की हुई कला-वस्तु कहीं भी अमूर्त नहीं दीखती। 'पट' शैली की ग्रामीण कला-परम्परा से यामिनीराय ने बहुत-कुछ लिया है, पर यह नितान्त सत्य है कि उनके चित्र कहीं भी अनुकृतियां नहीं कहे जा सकते।

राम और कृष्ण के चरित-चित्रण से यामिनीराय का गहरा ममत्वभाव है। अतः इस विषय के अनेक चित्र उनकी विशेष शैली के प्रतीक हैं। ध्यान से देखा जाय तो इनमें भी विकास की विभिन्न अवस्थाएं नज़र आ जायंगी। पर यह कैसे हो सकता था कि वे राम और कृष्ण के चरित-चित्रण तक ही सीमित रहते? अतः उनके यहां बंगाल के लोक-जीवन के जीते-जागते पात्रों की कमी नहीं। यहां किसान और लुहार मिलेंगे तो बाउल और फकीर भी। यहां लाल चिड़िया लिये हुए किसान बालक भी देखा जा सकता है। नारी को भी भुलाया नहीं गया—ब्याहता नारी मिलेगी तो अनब्याही कन्या भी, नवयौवना भी और वृद्धा भी; श्रमजीवी नारी और भद्रवर्गीय नारी—यहां दोनों ने समान रूप से प्रवेश किया है। इसमें मुख और देह का चित्रण इस बात का परिचायक है कि यामिनीराय ने कोई आज ही कूची और रंग से काम लेना शुरू नहीं किया। रंग स्वयं अपने मुख से बोल उठते हैं। रेखाएं अलग अपना सिक्का मनवा लेती हैं। एक रंग दूसरे रंग को थामे हुए नज़र आता है। जैसे एक-दूसरे में खो जाने का आदर्श

एकदम ठुकरा कर प्रत्येक रंग ने अपना अलग व्यक्तित्व दर्शाने में ही मुक्ति का मन्त्र पा लिया हो। रंग भी गिने-चुने—वही आदि-वासियों के प्रिय गहरे रंग जो धरती पर प्रतिदिन नज़र आते हैं। इस बात का यामिनीराय को सदैव ध्यान रहता कि वे कुछ इस तरह रंगों का प्रयोग करें कि उनके चित्र एक सुगठित और सम्पूर्ण इकाई का रूप लेते चले जायं। जैसा कि विष्णु दे ने स्वीकार किया है—'रंग का यह उपयोग एशियाई कला में दुर्लभ है। भारतीय चित्र कला के इतिहास में कहीं-कहीं इसकी झलक मिल जाती है, यथा बसोली कलम के अथवा अजन्ता के चित्रों में। किन्तु अजन्ता एक तो स्वयं भारतीय कला का एक असाधारण युग है, दूसरे वह अनिवार्यतः स्थापत्य पर आश्रित है। उसमें मध्यकालीन आख्यान-चित्रों जैसी प्रवहमानता है, जब कि यामिनीराय के चित्र स्वतः सम्पूर्ण खण्ड-चित्र हैं। अजन्ता के अज्ञातनामा उस्तादों ने पत्थर की रूखी सतह पर रंगों की जो अनूठी झलक दर्शाई, उसकी साधना भी यामिनीराय को नहीं करनी पड़ी। 'यामिनीराय रंग कैसे प्रस्तुत करते हैं, अथवा उनके उपयोग के कितने विभिन्न टेकनीक बरतते हैं, इसकी विवेचना यहां प्रासंगिक नहीं, यहां इतना ही कहना यथेष्ट है कि अपने अनुभवों द्वारा उन्होंने रंग का अच्छा रासायनिक ज्ञान, और चित्रकारी के एक उपेक्षित अंग—फलक की तैयारी (ग्राउंडिग) में दक्षता प्राप्त की है।'

यामिनीराय की कल्पना इतनी सजग न होती तो कदाचित् वे अपने ईसा-सम्बन्धी चित्रों में इतनी सफलता प्राप्त न कर सकते इन चित्रों पर वैष्णव प्रभाव प्रत्यक्ष है। ईसा के सन्देश का शाश्वत सत्य प्रकट करते समय यामिनीराय की कूंची को किसी प्रकार की संकीर्णता छू तक नहीं सकी!

जब अभी यामिनीराय की नई कला की कद्र करने वाले

आगे नहीं आये थे, वे 'लैंडस्केप चित्र' बनाकर घर का खर्च चलाने पर मजबूर हुए थे। स्वयं यामिनीराय इन चित्रों को बहुत महत्त्व नहीं देते, हालांकि इनमें विशेष रूप से बांकुड़ा की धरती, जहां छोटी-छोटी झाड़ियां बहुत होती हैं, नदी तट, पहाड़ियों के नीचे रेलवे लाइन इत्यादि के दृश्य बहुत सुन्दर हैं। उनकी पत्नी ने कहीं एक बार कह दिया—'छोड़ो बाकी चित्र। पोर्ट्रेट नहीं बनाते तो लैंडस्केप ही सही। पैसा तो आये।' कहते हैं इस पर यामिनीराय को बहुत क्रोध आया और वे झुंझला कर कह उठे थे'—'तुम यह सब जोर-जबर्दस्ती की बात करोगी तो मैं एकदम चित्रकला से छुट्टी ले लूंगा!'

यामिनीराय ने घोड़ों, हाथियों और गाय को भी नहीं भुलाया, न बिल्ली और हिरन और मछली को ही। इन चित्रों में रेखाओं की विशेषता कलाकार के सिद्धहस्त होने का प्रमाण है।

कुछ दिनों से यामिनीराय 'टैंपेरा' पर तैल रंगों के थिगरे लगा-लगा कर नये प्रयोग कर रहे हैं या फिर खुरदरे फलक पर अंकित रेखा-चित्रों के लिए काजल के हल्के और गहरे लेप पर जोर देते हैं जिससे इन रेखाचित्रों में कास-कार्य-सा प्रभाव पैदा हो जाता है और विशेषता यह रहती है कि प्रकाशमयता में कहीं कुछ कमी नहीं आती। विष्णु दे के कथनानुसार—'हमारे देश में कोई भी आधुनिक आन्दोलन यामिनीराय की शुद्ध रूप-साधना और बन्धन-मुक्तता को आधार बना कर ही आगे बढ़ सकता है। पिकासो जैसा प्रतिभाशाली कलाकार भी क्यों न हो, उसके अमूर्त्त रूपाकार के प्रयोगों से पहले किसी मातीस द्वारा रंग का पूरा अन्वेषण हो जाना आवश्यक है—यूरोपीय कला का ऐतिहासिक विकास इस बात का साक्षी है।'

× × ×

गत महायुद्ध के दिनों में विशेष रूप से अमेरिकन और

अंगरेज कलाकारों ने, जो सैनिकों के रूप में भारत आये थे, यामिनीराय को कला को बहुत प्रोत्साहन दिया, और अब तो देश-विदेश की सीमाओं को पार करते हुए उसके चित्र उनकी ख्याति का प्रसार कर रहे हैं। इस ख्याति के साथ कलाकार को अब धन की भी कमी नहीं रही। अनेक कलाकार उनकी सफलता पर नाक-भौं चढ़ाते हैं और कहते हैं वे तो एक-एक चित्र की बीसियों अनुकृतियां दे छोड़ते हैं और वे भी सस्ते दामों पर, और इस प्रकार उन्होंने चित्रकला को रुपया कमाने का धन्धा बना लिया है। शायद इस आलोचना में कुछ लोगों को तथ्य भी नजर आया। पर यह कहा जा सकता है कि कला का प्रसार किसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं। क्योंकि कला को तो घर-घर पहुंचाना है, और वह भी कला-प्रेमियों की जेब के अनुकूल मूल्य पर। यदि उच्च-वर्ग के धनी कलाप्रेमियों तक ही कला को सीमित रखा जाय तो लोक कला का तो कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता। यामिनीराय लोक-कला के इस पक्ष से सुपरिचित हैं और अपने दायित्व को खूब पहचानते हैं।

स्वतन्त्र भारत में यामिनीराय जैसे लोक-जीवन के कला-शिल्पी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त और जनपद के एक-एक ग्राम में छोटे-मोटे कला-भवन की नींव रखी जानी चाहिए, जहां अनेक चुने हुए चित्रों में सब से अधिक, प्रभाव यामिनीराय का ही पड़ेगा। क्योंकि इनमें जनता को अपना चेहरा नजर आयेगा और हर कोई देखेगा जन जीवन की शत-सहस्रो परम्परा अपने बहुमुखी सौंदर्य-बोध को पा रही है।
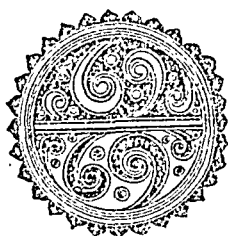
राहुल सांकृत्यायन

राहुल से केवल एक वार भेंट हुई, और वह भी लाहौर में—उनकी इस रूस-यात्रा से पूर्व। यों लगा कि शत-शत मुलाकातों का आनन्द आ गया। राहुल सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' का पंजावी में अनुवाद किया जा रहा था, और इसी सिलसिले में कुछ नये पंजावी लेखक एक प्रकाशक के यहां एकत्र हुए और वहीं राहुल को भी निमंत्रित किया गया। वहुत वात हुई। किसी-किसी लेखक ने आवश्यकता से कहीं अधिक पंजाबी साहित्य की आधुनिक प्रगति की गाथा छेड़ दी, और मुझे पग-पग पर यह भय लगा रहा कि कहीं राहुल ऊव कर यह फैसला न कर लें कि भविष्य में कभी पंजावी लेखकों का वुलावा स्वीकार नहीं करना होगा। परन्तु जव राहुल से कहा गया कि अव आपकी वारी है, आप हमें कुछ सुनायें, तो उन्होंने मुसकरा कर यही कहा, 'मैं तो यहां आप लोगों की वातें सुनने आया हूँ, वल्कि यदि आप उर्दू या हिन्दी में वोलने का यत्न न करें और पंजावी में ही वोलें तो भी मैं कुछ-कुछ तो समझ ही लूंगा। मैं तो, जैसा कि सव जानते हैं, मातृभाषाओं का पक्षपाती हूँ। मैं तो किसी

जमाने में लाहौर में रह चुका हूं। अतएव पंजाबी शब्दों की ध्वनियां मेरे मन की गहराइयों में अभी तक गूंज रही हैं। एक बात और भी तो है। मेरे मित्र आनन्द कौसल्यायन यद्यपि लिखते तो हिन्दी में हैं परन्तु अपनी मातृभाषा पंजाबी के प्रति उनका अनुराग कुछ कम नहीं है, और यदा-कदा मैंने उनके मुख से भी पंजाबी की खूबियों सब सुन रखी हैं।' मुझे याद है कि राहुल का यह रुख देखकर कुछ प्रगतिशील कवियों ने अपनी पंजाबी कविताएं भी सुना डाली थीं, और राहुल की सहायतार्थ वहीं बैठे-बैठे इनके अनुवाद भी कर डाले गये थे। राहुल से कई प्रश्न पूछे गये, जिनके उत्तर देते समय राहुल कभी जरा गम्भीर हो जाते और कभी हलकी-फुलकी भाषा में बोलने लगते। अधिक प्रश्न ऐसे थे जिनसे पता चला कि उनकी यात्राओं के प्रति हर कोई उत्सुक है। राहुल सांकृत्यायन न कह कर केवल राहुल कहना ही मुझे प्रिय लगता है। एक तो इसलिए कि सांकृत्यायन भारी-भरकम शब्द है। दूसरे इसलिए कि केवल राहुल कहने से बुद्ध पुत्र की याद ताजा हो जाती है, जैसा कि मैंने उस दिन पंजाबी साहित्यिकों के इस सम्मानित अतिथि से साफ़-साफ़ कह दिया था।

इस साहित्य-गोष्ठी के पश्चात् उस दिन बहुत देर तक राहुल जी से बातें हुईं। मैंने कहा, 'पिछले दिनों आनन्द कौसल्यायन के साथ सिंध और बम्बई की यात्रा करने का अवसर मिला तो आपके सम्बन्ध में प्रायः रोज ही कोई न कोई बात चल पड़ती, और कभी-कभी तो यों प्रतीत होता कि आप ही इस गीत की टेक हैं।'

राहुल झट कह उठे—'यह मत सोचिये कि हम पहली बार मिल रहे हैं।'

मैंने कहा—'हैदराबाद सिंध की वह रात मुझे कभी नहीं

भूलेगी जब अचानक नागार्जुन से भेंट हो गई, और हमने रतजगा किया। बात पर बात। गाथा लम्बी होती चली गई, जैसे चर्खा कातते समय कोई ग्रामीण नारी बारीक तार निकालने लगे और पूनी खत्म होने ही में न आय, या यह कहिये कि वह इस होशियारी से एक पूनी खत्म होने पर दूसरी पूनी से तार निकालना शुरु कर दे कि पता ही न चले कि कब नई पूनी शुरु हुई। तार पर तार। गाथा लम्बी होती चली गई, और इस गाथा में बार-बार आपका नाम प्रतिध्वनित हो उठा।'

अब के राहुल के मुख पर हलकी-सी मुसकान बिखर गई। बोले 'आपने तो कविता शुरु कर दी। अच्छा हो कि आप किसी चर्खा कातने वाली का गीत ही शुरु कर दें।'

मैं भी उत्सुक हो उठा। झट एक गान के स्वर मेरे मानस में जाग पड़े। मैंने कहा, 'तो सुनिये—

तन्द नहियों टुट्टदी पूणी न हिया मुक्कदी
सस्सू न हिया अहदी—'पाणिए नूं जा!'

तार नहीं टूटता। पूनी भी खत्म नहीं होनी। न सास ही यह कहती—पानी लाने चली जा।

'यह कहां का लोकगीत है?' राहुल ने पूछ लिया।

'कांगड़े का' मैंने उत्तर दिया।

'वे सम्भल कर बोले, 'सुन्दर चित्रण है। ग्राम की नारी। सास का डर। विवश होकर चर्खा कातते रहने की मर्यादा। कुछ अवकाश नहीं। इस अवस्था में नारी यही तो सोचेगी कि काश तार टूट जाय और इसे जोड़ने के बहाने ही कुछ आराम की सांस मिल जाय। या यदि सास यह कह उठे कि उठ बहू झरने से पानी भर लाने का समय हो गया, तब तो काम ही बन जाय। कहिये मैंने कहीं गलत व्याख्या तो नहीं कर दी?'

'यही तो गीत का मर्म है', मैंने जैसे खुशी से उछल कर कहा।

राहुल को झट कांगड़ा कलम का ध्यान आ गया। बोले, 'वे चितेरे भले ही न रहे हों पर उनके चित्र आज भी उनकी प्रतिभा की याद दिलाते हैं, और सच पूछो तो मालूम होता है कांगड़े के लोकगीत भी कांगड़ा कलम से सम्बन्धित हैं। वही रंग, वही रेखायें, वही जीवन में आस्था।'

मैंने किसी कदर उछल कर तिब्बत की बात छेड़ दी। 'जब आप १९३८ में चौथी बार तिब्बत जा रहे थे तो मेरा इतना सौभाग्य कहां था कि मैं कलकत्ते में आपसे मिल पाता। चित्रकार केवलकृष्ण उन दिनों आपके साथ तिब्बत गया था न।'

'यदि आप मिल गये होते तो आपको भी तिब्बत ले चलता,' राहुल ने हंस कर कहा, 'केवल बैठा चित्र बनाता, तुम घूम फिर कर तिब्बती लोकगीत जमा करते।'

'मैं आपके चल पड़ने के बाद पहुँचा राहुल,' मैंने जैसे मन को टटोलते हुए कहा, 'खैर मैं न जा सका तो क्या हुआ, आप भी तो तिब्बती लोकगीतों के कुछ बोल लेते आये थे। एक गीत तो सचमुच बहुत बढ़िया था जिसमें एक तिब्बती युवती को एक उपत्यका में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करते हुए दिखाया गया है। आप तो धर्म ग्रंथों की खोज में गये थे। लोकगीत की वाणी भी आपके कानों तक पहुँची और आपकी लेखनी ने झट से इसे कागज़ पर उतार लिया, यह कोई कम बात नहीं।'

'वह तो एक बहाना मात्र था। एक दिन तुम वहां जरूर पहुंचोगे मुझे मालूम है, और जिस प्रकार मैं वहां से लुप्त ग्रंथों का अनमोल ज़खीरा लेकर लौटा था, तुम भी वहां से लोकगीतों की अमर निधि लेकर इससे भारत और विश्व का परिचय कराओगे।'

मैं कुछ सकुचा-सा गया। झट नागार्जुन की बातें मेरे सम्मुख तैरने लगीं। राहुल का जन्म का नाम है केदारनाथ पाण्डे।

आज़मगढ़ जिले में उनका जन्म हुआ था। बचपन नाना के यहां गुज़रा। नाना पक्के शिकारी थे। नाना की कहानियों ने ही उन्हें स्वप्नदर्शी बना दिया था। ग्यारह वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया। पर थोड़ी समझ आने पर वे घर से ऐसे भड़के कि पचास वर्ष की आयु तक आज़मगढ़ जिले में पैर नहीं रखने का प्रण कर लिया। घर छोड़ने के बाद १९४३ में केवल चार घंटे के लिए ही वे अपने जन्म-ग्राम कनेला में गये थे। शुरू-शुरू में घर से भाग कर वे चार महीने कलकत्ते में गुज़ार आये थे। दूसरी बार भागने के बाद घर लौटे तो तीसरी उड़ान में हिमालय तक चले गये। चार-छै महीने उत्तराखण्ड की सैर करते रहे। फिर काशी में संस्कृत पढ़ने लगे। इसके लिए पिता ने मंज़ूरी दे दी थी। एक बार दशभुजा दुर्गा मा साक्षात् करने के लिए हठपूर्वक उन्होंने यह शपथ खा ली कि देवी दर्शन नहीं देगी तो प्राण दे दूंगा। अब भला देवी के दर्शन कैसे होते। उन्होंने धतूरा खा लिया। यह तो खैर हुई कि मित्रों को पता चल गया और उन्हें किसी प्रकार बचा लिया गया। फिर वे एक महन्त के हत्थे पड़ गये। बूढ़े महन्त कहा करते, 'अब तुम्हारा नाम केदारनाथ पांडे, रामउदार दास। तुम एक लखपति महन्त के उत्तराधिकारी हो। बहुत पोथियां पढ़ लीं। अब मठ का काम सम्भालो। देखना यह सौ-पचास मूर्तियों को रोज़ प्रसाद चढ़ाने की मर्यादा बनी रहे।' फिर हम रामउदार दास को महन्त के चंगुल से निकलते देखते हैं। मठ से भाग कर वे दक्षिण भारत की यात्रा पर चल पड़े। दक्षिण भारत से लौटने पर साधु राम-उदार आर्यसमाज के प्रभाव में आ गये—१९१५ से १९२२ तक मुसाफिर आर्य विद्यालय आगरा में यह नया परिच्छेद शुरू हुआ। फिर लाहौर आकर संस्कृत का अध्ययन किया। घुमक्कड़ी और बे टिकट की रेल-यात्रा—यही क्रम चलता रहा। पंजाब में

जलियांवाला का हत्याकांड देखने के पश्चात् वे कांग्रेस की ओर आ गये। बिहार का सारन जिला कर्म-भूमि बना, जहां से वे कानपुर गये और गोहाटी के अधिवेशनों में प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित हुए। फिर हम उन्हें लंका अथवा सिंहल में देखते हैं। विद्यालङ्कार परिवेण (केलनिया) में अध्यापन कार्यः १६२७-२८ में संस्कृत का अध्यापन और पालि त्रिपिटक का गम्भीर अध्ययन और मनन।

मैंने कहा, '१६४० में जब मैं लङ्का में था तो मुझे आपके गुरुवर धम्मानन्दजी से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे आपको खूब याद कर रहे थे। मैंने उनसे जब यह जिक्र किया कि आप एक रूसी स्त्री से विवाह करके अब गृहस्थ में आ गये हैं तो उन्होंने केवल यही कहा कि बौद्ध-धर्म में भिक्षु के लिए गृहस्थ का द्वार सदा खुला रहता है। और मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई कि आप और आनन्द कौसल्यायन एक ही गुरु के शिष्य हैं।" राहुल ने किसी कद्र मुसकरा कर बात का रुख तिब्बत की ओर मोड़ते हुए कहा, 'सन् १६३० में जब मैं तिब्बत पहुंचा तो धम्मानन्दजी ने यह देखकर कि नेपाल और तिब्बत में युद्ध की आशंका है आनन्द जी को लिखा था, "फौजी लोग नहीं समझते कौन पंडित है कौन मूर्ख। लड़ाई छिड़ने जा रही है। उन्हें लिखो कि शीघ्र जैसे बने लौट आये।' इसके उत्तर में मैंने लिख भेजा था, 'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्—जिन समस्त ग्रन्थों का उद्धार करने की इच्छा से यहां आया हूँ उन ग्रन्थों के साथ ही तिब्बत से लौट सकता हूँ। गुरुवर धम्मानन्दजी ने दो दिन के भीतर तीन हजार रुपयों की व्यवस्था कर दी और तार दिलवाया कि अपेक्षित ग्रन्थों के साथ शीघ्र लौटूं। मुझे याद है मैं सत्रह खच्चर ग्रन्थ लादकर लाया। यह समस्त वांमय पटना म्यूज़ियम में सुरक्षित पड़ा है।

में कुल चार बार तिब्बत गया। आचार्य धर्मकीर्ति (सातवीं शताब्दि के पूर्वार्धवर्ती) की सुविख्यात परन्तु लुप्त कृति—प्रमाणवार्तिक मूल रूप में मुझे प्राप्त हुई तो यह समाचार जान कर प्राच्य दर्शन के पाश्चात्य मनीषियों ने मुझे समुद्री तार से बधाइयां भेजीं।'

मैंने तिब्बती चित्रपटों की बात छेड़ दी, 'एशिया पत्रिका में तिब्बती चित्रकला पर आपका लेख पढ़ कर मन उछल पड़ा था।'

'इतना कहना काफी है कि वह लेख आपको पसन्द आया,' कह उठे, '१६३२ में २२-२७ नवम्बर के दिनों में पेरिस में संग्रहीत तिब्बती चित्रपटों की प्रदर्शनी हुई थी। सब ने जी खोल कर तिब्बती तूलिका की दाद दी। आलोचकों के कथनानुसार यह प्रदर्शनी अपूर्व थी। अब वे चित्रपट भी सबके सब पटना म्यूजियम में पड़े हैं।

'पटना म्यूजियम को तो आपने पालि साहित्य और तिब्बती चित्रकला का तीर्थ बना दिया,' मैंने गर्व से कहा।

सन् १६३२ में राहुल ने आनन्द कौसल्यायन को एक पत्र में लिखा था, 'बौद्ध ग्रन्थों को हिन्दी में लाने की पंचवर्षीय योजना बनाई है। मज्झिम निकाय के तीन सूत्र प्रतिदिन के हिसाब से अनुवाद कर रहा हूँ। कभी-कभी मन उचटता है। आराम करना चाहता है। तब कहता हूँ, 'अरे! आराम करने का समय ५० वर्ष के बाद आता है तब भी कभी-कभी उचटता है, तब कहता हूँ, 'अरे! काम कर प्रशंसा के मीठे लड्डू खाने को मिलेंगे। तब भी कभी-कभी उचटता है। तब उसे जबर्दस्ती पकड़ कर जोत देता हूँ। आनन्द कौसल्यायन के जातक सम्बन्धी कार्य की उन्होंने बहुत प्रशंसा की। बोले '१६३५-३६ में तो काम का यह हाल रहा कि २४ घंटों में मुश्किल से तीन-चार घंटे सोने के नाम पर खर्च होते थे। शेष समय में काम का चक्र चलता था।'

यह बात बहुत हद तक सही है कि राहुल अवकाश, विराम और विश्राम नहीं जानता। प्रतिष्ठा और सम्मान के पीछे दौड़ना कभी उनका ध्येय नहीं रहा। नागार्जुन के शब्दों में बहुधा ऐसा अवसर भी आया जब कि अपना प्रिय औजार एक ओर रख कर वह उठा और स्वाधीनता-कामी सैनिकों की अगली कतार में जा खड़ा हुआ। एक-आध बार उसका शरीर क्षतविक्षत हुआ है, स्वतन्त्रता के शत्रुओं ने उसका सर तक फोड़ डाला था......'

नागार्जुन ने यह भी हिसाब लगाया है कि राहुल-साहित्य २१००० पृष्ठ तक पहुँच गया है, जिसमें ६००० पृष्ठ रायल साइज़ के हैं। अनुवाद, सम्पादन, सार-संकलन, मौलिक, इसमें सभी तरह की चीजें हैं। अंगरेजी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, उर्दू, सिंधी, और पंजाबी में राहुल-साहित्य का हिसाब लगाना अभी बाकी है। धर्म, दर्शन, कथा उपन्यास, साम्यवाद, राजनीति, विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास, जीवनी, भाषा-विज्ञान, आलोचना, यात्रा-वृत्तान्त. कोष, स्वयं शिक्षक—ये सब विषय राहुल-साहित्य में समा गये हैं। पिछले वर्ष में इस साहित्य का निर्माण हुआ है।

नागार्जुन ने तो ठीक ही चित्रण किया है। 'दो-चार घूंट पीकर बची हुई चाय उनकी ठण्डी हो जाती है या दो एक कश खींचकर बाकी बचा सिगरेट जलता-जलता उनकी अंगुली को छू लेता है और मैं सोचता हूँ—यह व्यक्ति महापंडित मात्र ही नहीं है बल्कि अनागत की ओर भी धावित होता रहता है। ऐसा उद्बुद्ध अंतःकरण लेकर ऐसी जागरूक चेतना पाकर, कोई अपने को कैसे रोक सकता है ? गर्मा-गर्म राजनीति और उग्रतम विचारों से वह कब तक अपने को अलहदा रखेगा ? राहुल की आयु के सात साल जेलों में बीते हैं। उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों

का समाचार सुनकर बहुत सारे मित्रों ने उन्हें अदूरदर्शी तक कह डाला है। अनेक हितैषियों ने समय-समय पर सलाह दी है—आप अपने को साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सीमित रखिये। यह सब सुनकर राहुल अपनी बाल-सुलभ सरलता से मुसकरा उठे हैं, परन्तु युग का आह्वान कान में पड़ते ही दुष्प्राप्य लिपि वाले तालपत्रों को वेष्टनी में बांधकर एक ओर रख दिया, मैग्निफाइंग ग्लास को दूसरी ओर और जा मिले सत्याग्रहियों में सविनय अवज्ञा-भंगकारियों में, किसान कार्यकर्ताओं में, साम्य-वादियों में राहुल ने मुर्दों की खोज छोड़ दी, जिन्दों की सुधि लेना और उन्हें अधिक से अधिक सचेत करना आरम्भ किया। दूसरी बार (१६३७) जब रूस से लौटे तब से उन्होंने वही लिखा है। जनता को इसकी आवश्यकता थी, लोकतन्त्र को अकलुष और स्फूर्तिमय बनाने वाला उनका यह साहित्य देश के कोने-कोने में पहुँचा है। नगर, ग्राम, निगम, जनपद—सभी जगह गया है। किसान, मजदूर, अध्यापक, छात्र, निम्न और मध्यवर्ग के व्यापारी और जमींदार, डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक—राहुल-साहित्य के पाठकों का समुदाय बहुत विशाल है।

सुना है कि इस बार ढाई साल तक रूस में रह कर राहुल ने बहुत-सी पुस्तकों के लिये सामग्री जुटाई। मध्य एशिया की जातियां, वहां का नृत्य, भाषा-तत्व, भूगोल आदि अरबी, फारसी, रूसी, चीनी और मंगोल स्रोतों से संकलित किये गये ह। नागार्जुन ने हिसाब लगाया है कि कोई ३००० पृष्ठ का साहित्य तैयार करने योग्य सामग्री राहुल के नोट्स में सुरक्षित है। सदरुद्दीन सेनी के दो ताजिक उपन्यासों के अनुवाद, ८०० पृष्ठ की दिनचर्या (ईरान और सोवियत के पिछले प्रवास की गाथा) इस सामग्री से अलग है।

प्राच्यविद्या सम्मेलन (बड़ौदा) की हिन्दी शाखा के

सभापति १९३३ में राहुल ही थे। फिर १९३९ में बिहार प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। १९४० में किसान-सभा के सभापति, और इसी वर्ष इलाहाबाद में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सभापति, और इसी वर्ष बम्बई में होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति भी राहुल ही चुने गये हैं।

सोचता हूं कि राहुल का अभिनन्दन तो समस्त लेखक-वर्ग का अभिनन्दन है—मेरा अपना अभिनन्दन भी। आज जब कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है, राहुल जैसे व्यक्तित्व की छाप लगने से हिन्दी का मार्ग सीधा और साफ होता चला जायगा।

मेरे सम्मुख राहुल की वह मुखाकृति उभरने लगती है जिसे मैंने लाहौर की उस पंजाबी साहित्य-गोष्ठी में समीप से देखा था। धीर-गंभीर मुखाकृति और इस पर कहीं-कहीं बिखरती हुई मुसकान, जैसे पहाड़ पर एक ओर धूप हो और दूसरी ओर छांह, इस धूप-छांह का शताशत आह्वान, इसे शत-शत प्रणाम, इसका शत-शत अभिनन्दन।

गांधी जयन्ती

काका कालेलकर का यह कथन कि हर साल की गांधी-जयन्ती में कुछ-न-कुछ विशेषता तो होती ही है, आज और भी सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि स्वतन्त्र भारत में हम पहली गांधी-जयन्ती मनाने जारहे हैं।

गांधीजी के निकटवर्त्ती उन्हें 'बापू' कह कर बुलाते हैं। सच पूछो तो 'बापू' बहुत प्रिय शब्द है, और किसी को यह मानने में तनिक संकोच नहीं होगा कि गांधीजी ने अपनी जीवन-कला की सहायता से इस घरेलू-से शब्द को देशव्यापी स्वरूप दे दिया है। यह ठीक है कि भारत की स्वतन्त्रता का आन्दोलन गांधीजी के सम्मिलित होने से पहले ही आरम्भ हो चुका था, परन्तु इसकी रूप-रेखा को गांधीजी ने अपने हाथों से संवारा, उन्हीं की आवाज़ सुनकर देश की जनता इधर को लपकी, उन्हीं की देख-रेख में सत्याग्रह और असहयोग के हथियार जनता को प्राप्त हुए। उन्होंने 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' की विचारधारा का परवान चढ़ाया, उन्हीं के व्यक्तित्व की छाप अहिंसा की गति-विधि पर लगी। सन् '४२ में 'भारत छोड़ो' का नारा भी पहले-

पहल गांधीजी ने ही बुलन्द किया और उससे पूरे पाँच वर्ष के पश्चात् १५ अगस्त के दिन भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो समस्त राष्ट्र ने उन्हें राष्ट्र-पिता के रूप में पहचान कर अपना कर्त्तव्य पूरा किया। आज जब कि हम स्वतन्त्र भारत में पहली गांधी जयन्ती मनाने जा रहे हैं, 'बापू' शब्द हमें और भी प्रिय लगता है और हम समस्त विश्व के सम्मुख इसी शब्द के साथ उनका अभिनन्दन करते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ मेरे कानों में गूंजने लगी हैं—

तोमार कीर्तिर चेये तुमि जे महत,
ताइ तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय
कीर्ति रे तोमारीबारंबार।

अर्थात्—'तुम अपने यश की अपेक्षा महत् हो। इसीलिये तुम्हारे जीवन का रथ तुम्हारे यश को बारंबार पीछे छोड़ जाता है।'

स्वतन्त्र भारत में मनाई जाने वाली गांधी-जयन्ती के शुभ अवसर पर कवि की यह आवाज और भी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। यह तो स्पष्ट है कि कवि की वाणी का इस स्थल पर आध्यात्मिक रूप ही मुख्य है। परन्तु गांधीजी के व्यक्तित्व पर भी कवि की सूक्ति पूरी उतरती है। गांधी जी के जीवन का रथ उनके यश को पीछे छोड़ते हुए निरंतर गति से आगे ही आगे बढ़ रहा है।

मां का दूध पीता हुआ शिशु प्रार्थना-सभा में 'बापू' को देखता है। खेल में निमग्न बालक खेल भूलकर 'बापू' की ओर देखने लगता है। युवक और वृद्ध, नारी और नर, सभी गांधी-जी की बात सुनते हैं। और सच पूछो तो सुदूर ग्राम में रहने

वाला किसान भी बाहर से आने वाले व्यक्ति से यही प्रश्न करता है—कहो गांधी बाबा आजकल कहां हैं, कैसे हैं? बड़े घरेलू रूप में हर कोई यह जानना चाहता है कि गांधीजी अब क्या करने जा रहे हैं। जैसे समस्त देश एक परिवार हो, और अपने इस अगुआ का सहारा तक रहा हो।

सत्य-निष्ठा ही गांधीजी की साधना रही है। राजनीतिक आन्दोलन में सत्य-निष्ठा की मर्यादा स्थापित करने का श्रेय गांधीजी को ही मिलना चाहिए। वकील बनकर दक्षिण अफ्रीका में गये थे। परन्तु वे एक व्यक्ति के वकील बनने के स्थान पर समस्त जाति के वकील बन गये। पूरे सेनानी। पूरे सत्याग्रही। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों को बराबरी के राष्ट्रीय अधिकार अभी तक नहीं मिले। किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि आज यदि साथी देशों की परिषद में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के हक में अनेक राष्ट्र अपनी आवाज बुलन्द कर रहे हैं तो इसका श्रेय सचमुच गांधीजी को ही है जिनका सहयोग दक्षिण अफ्रीका के भारतीय आन्दोलन को सर्वप्रथम प्राप्त हुआ था। दक्षिण अफ्रीका से लौट कर गांधीजी भारत में आये। स्वराज्य मांगने से नहीं मिलेगा—यह आवाज खद्दर की टोपी पहनने वाले एक दुबले-पतले व्यक्ति के कंठ से उत्पन्न हुई। यही गांधीजी थे। खद्दर की टोपी गांधी-टोपी कहलाई। १९२१ में तिलक का देहान्त होने पर राष्ट्रीय आन्दोलन की बाग्डोर गांधीजी के हाथ में आई। ये वे दिन थे जब सत्याग्रह आन्दोलन जोरों पर चला। गांधी टोपी पहनना जुर्म था। 'वन्देमातरम्' गान पर भी रोक थी। इन्हीं दिनों की एक दिलचस्प घटना पुराने सत्याग्रहियों को आज भी याद है। एक जलूस निकल रहा था। दाएं-बाएं शौकतअली और मुहम्मदअली बीच में गांधीजी। भीड़ को चीरता हुआ एक सिख आगे आया। बोला—गांधी बाबा कौन है? किसी ने

बताया—'दाएं शौकतअली हैं, बाएं मुहम्मदअली; और बीच में गांधी बाबा बैठे हैं। वह सिख जाट बहुत हैरान हुआ। बोला—ये शौकतअली और मुहम्मदअली तो फिर भी कुछ हैं। यदि वे अंगरेज के एक घूंसा भी दे मारें तो शायद अंगरेज उठ न सके। पर यह गांधी बाबा तो कुछ नहीं कर सकते—यह दुबला-पतला आदमी क्या कर सकता है। मैं तो समझता था कि गांधी बाबा कोई बहुत बड़ा भैंसा है जिसके आगे अंगरेज सरकार भागी जा रही है। पर यह गांधी बाबा तो बहुत कमजोर है'......सब हैरान थे। पर उन्हें और भी हैरान करते हुए वह सिख जाट कह उठा, 'गांधी बाबा, जरा पैर बढ़ादो। 'लाओ मैं इन्हें छू लूं।' राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में गांधीजी का अद्वितीय स्थान रहा है। गांधीजी ने इसे गति भी दी है और दिशा पर जोर भी दिया। हरिजन आन्दोलन ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्ति दी। फिर यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। गांधी जी ने हिन्दुस्तान की ओर से आवाज उठाई—इस युद्ध में केवल प्रेक्षक बन कर नहीं रह सकते : संसार को विनाश से बचाने के लिए हमें अपनी नीति निश्चित करनी होगी। कहते हैं गांधीजी का वह भाषण जो उन्होंने अढ़ाई घन्टे तक बम्बई में कांग्रेस के खुले अधिवेशन में दिया था, 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव की व्याख्या के रूप में भारतीय इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखने योग्य है। युद्ध चलता रहा, और कांग्रेस के नेता जेलों में ठूंस दिये गये। आखिर युद्ध बन्द हुआ। गांधी जी और सारे अन्य नेता बाहर आये। अंगरेज ने कहा—'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को कांग्रेस वापस ले ले। परन्तु देश जाग उठा था और गांधीजी देश की शक्ति पहचानते थे। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापस नहीं लिया गया। अंगरेज ने एक बार फिर से गौर किया। जल्दी-जल्दी रंगभूमि पर कई परदे उठे और गिरे—

आखिर गांधी जी ने कड़वा घूंट पीकर देश का बंटवारा भी मान लिया और १५ अगस्त के दिन देश को स्वतन्त्रता मिल गई। गांधीजी उस दिन कलकत्ता में थे। सब खुश थे। परन्तु एक बार फिर हिन्दु-मुस्लिम दंगे शुरू हो गये। गांधीजी ने 'इन्हें बन्द करने के लिए अनशन रखा। किसी को आशा न थी कि कलकत्ता में शान्ति हो जायगी। गांधीजी ने मृत्यु से बाजी लेली। देश का सौभाग्य कि कलकत्ता में शांति हो गई। कलकत्ता से लौटकर आजकल वे दिल्ली में शान्ति स्थापित करने में संलग्न हैं।

गांधीजी की आवाज़ में आज वेदना के स्वर गूंज उठते हैं। वे कहते हैं, 'मुस्लिमों को भारत से तथा हिन्दू और सिखों को पाकिस्तान से निकाल बाहर करने का अर्थ होगा युद्ध और देश की सर्वकालीन तबाही और बरबादी। यदि इस आत्म-घाती नीति का अवलम्बन दोनों उपनिवेशों में किया गया तो वह पाकिस्तान तथा भारतीय संघ में क्रमशः इस्लाम और हिन्दू धर्म की कब्र खोद देगी। बदला लेने की बात ठीक नहीं। जलियांवाला बाग में जिनका खून साथ-साथ बहा है वे अब एक-दूसरे को अपना दुश्मन कैसे समझ सकते हैं? जब तक मेरी चलती रहेगी, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। पूर्वी पंजाब को ५७ मील लम्बा काफिला आ रहा है। यह ऐसा क्यों? इतना बड़ा काफिला दुनिया के इतिहास में कभी नहीं सुना गया। यह समय पागलपन दूर करने का है। विद्रोही कोई भी क्यों न हो उसे सजा दीजिये। विद्रोहियों को हमेशा गोली से उड़ाया गया है। भूतपूर्व भारत मंत्री श्री एमरी के विद्रोही लड़के तक को प्राण-दण्ड दिया गया। किन्तु मेरा दण्ड विद्रोहियों के लिए भी इस प्रकार का नहीं है।'

किन्तु गांधीजी की वेदना-पूर्ण आवाज के नीचे से प्रायः उनका विनोद उभर आता है। पिछले दिनों एक बार उन्होंने

एक लड़की के सिर से तिनकों का हैट उठाकर अपने सिर पर रख लिया था। एक बार एक बच्चे को देखकर गांधीजी हंसने लगे और उन्हें जोर से खांसी आने लगी। किसी ने कहा— 'बापू, आप हंसिए नहीं, हंसने से खांसी सताएगी।' और बापू ने झट उत्तर दिया, 'तुम बूढ़े लोग न हंसो। मैं तो जवान हूँ। फिर हंसू क्यों नहीं।'

शुक्रवार २६ सितम्बर १९४७ को गांधीजी ने अपनी प्रार्थना सभा में कहा, 'यदि पाकिस्तान ने अपनी प्रमाणित गलती को मानने से इन्कार किया और उसे छोटा दिखाने की कोशिश करता रहा तो भारत सरकार को विवश होकर उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी ही पड़ेगी। युद्ध छिड़ा तो पाकिस्तान में हिन्दू जासूस बनकर नहीं रह सकते। वे पाकिस्तान के प्रति वफ़ादार नहीं रह सकें तो उन्हें पाकिस्तान छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार जो मुसलमान पाकिस्तान के प्रति वफादार हैं उन्हें भारत से चले जाना चाहिए।' हमारे लिए स्वतन्त्र भारत में मनायी जाने वाली पहली गांधी-जयन्ती तभी सार्थक होगी जब भारत में शान्ति स्थापित हो जाय।

सच ही अपने यश की अपेक्षा महत् हैं, और बारम्बार उनके जीवन का रथ उनके यश को पीछे छोड़ जाता है।
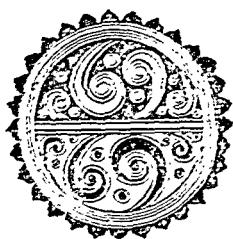
लेखक का उत्तरदायित्व

हिन्दी साहित्य के एक प्रसिद्ध लेखक ने देश के एक राष्ट्रीय नेता से हुई अपनी बातचीत का उल्लेख करते हुए एक बार मेरे सामने इस बात पर बड़ी चिन्ता प्रकट की कि राजनीतिक क्षेत्र में लेखक की कोई खास पूछताछ नहीं। बात यों हुई कि उक्त महोदय ने बड़े उत्साह से स्व० प्रेमचन्द का कोई स्मारक स्थापित करने का प्रस्ताव रखा था। इस पर उन्हें उत्तर मिला, 'बेचारे प्रेमचन्द ! वह ठीक रास्ते की ओर आ ही रहे थे कि चल बसे।'

मेरे लेखक मित्र यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि प्रेमचन्द जीवन-पर्यन्त ठीक पथ से भटके रहे और केवल अपने अन्तिम दिनों में ही ठीक रास्ते की ओर अग्रसर हो रहे थे। मैंने उनसे कहा, 'हमारा काम है लिखना। हमें यह चिन्ता क्यों हो कि राजनीति में हमारी पूछताछ होती है या नहीं। बेचारे राष्ट्रीय नेताओं को इतना समय ही कहां मिलता है कि वे बैठ कर एक-एक लेखक की एक-एक रचना पढ़ जायं?'

'हां, हां,' मैंने हंस कर कहा, 'उस एक कवि की बात तो

आपने सुन रखी होगी जो गांधीजी के पास अपनी कविताओं का नया संग्रह लेकर पहुंचे और उनसे सम्मति मांगी। गांधीजी ने क्या कहा, यह तो कोई वही व्यक्ति बता सकता है। जो उस समय वहां उपस्थित रहा हो, पर वहां से लौटते समय उस कवि महोदय ने उद्योग संस्था से मधु की एक बोतल खरीद ली और वापस आकर अपने मित्रों से कहा—'गांधीजी को ये कविताएं इतनी पसन्द आईं कि उन्होंने कहा, मैं तो चाहता हूँ कि सरकार मुझे जल्दी ही जेल में भेज दे और वहां आराम से मैं इन कविताओं का रस ले सकूं, और इसी रस के प्रतीक के रूप में उन्होंने मुझे यह मधु उपहार में दिया है।'

यद्यपि मेरे मित्र उस समय हंसने की बजाय गंभीर चर्चा के लिए ही अपने को तैयार कर चुके थे, तो भी उक्त कवि महोदय की चर्चा से हमारी बातचीत का रंग ही बदल गया।

फिर से प्रेमचन्दजी की चर्चा आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा, 'प्रेमचन्द ने जिस प्रकार शुरू से आखिर तक लेखक की जिम्मेदारी को निभाया उसे देखते हुए यदि हम उनका कोई स्मारक प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे तो यह सचमुच हमारा और हमारे साहित्य का दुर्भाग्य ही तो होगा।'

मैंने कहा, 'प्रेमचन्द का स्मारक प्रेमचन्द का साहित्य है, आप यह मान कर क्यों नहीं चलते?'

'सो तो ठीक है।'

वह बोले, 'फिर भी क्या इसी से हमारी तसल्ली हो जानी चाहिए?'

मैंने कहा, 'दूर क्यों जाँय? हँस को लीजिए। हम यह क्यों न मान लें कि यह प्रेमचन्द का स्मारक है?'

इस पर हम एकमत थे कि प्रेमचन्द ने स्वाधीनता के सिंह-द्वार की ओर अग्रसर होती जनता को चेताने में कोई कसर उठा

नहीं रखी थी और जब भी इस देश के राष्ट्रीय साहित्य का इतिहास लिखा जायगा, उसमें प्रेमचन्द का विशेष उल्लेख रहेगा; क्योंकि किसी भी देश या राष्ट्र को प्रेमचन्द जैसे लेखक पर गर्व हो सकता है।

स्वान्तः सुखाय का आदर्श मेरे मित्र को अप्रिय नहीं पर वह लेखक की जिम्मेदारी की बात को भी सब समझते हैं। आदर्श की पूर्त्ति में भी स्वान्तः सुखाय की भावना रह सकती है, यह वह मानते हैं। निरा स्वान्तः सुखाय वाला साहित्य भी बहुमूल्य हो सकता है, पर जिस युग में लेखक रहता है उसकी छाप तो उसकी रचना पर पड़ेगी ही, चाहे वह कितना ही बचने का यत्न क्यों न करे। जीवन में जो कुछ रहता है उसी का चित्रण तो लेखक को करना होता है, क्योंकि इसी प्रकार वह एक युग-पुरुष के रूप में युग की वाणी का माध्यम बनने में समर्थ हो सकता है। सांस्कृतिक विकास की सीमाएं लेखक को घेरे रहती हैं, यह तो प्रत्यक्ष है। वाल्मीकि और तुलसी या कालिदास और रवींद्रनाथ सब अपने-अपने युग के प्रतिनिधि हैं, क्योंकि उनका काव्य एक व्यक्ति का काव्य होने की बजाय समष्टि का काव्य बन जाता है। यह अलग बात है कि उच्च-कोटि के साहित्यकार सदैव कुछ इस प्रकार अपने युग को देखते हैं और कल्पना के सामंजस्य द्वारा अपनी रचनाओं को कुछ ऐसा रूप देने में समर्थ होते हैं कि वे केवल अपने ही युग में सीमित नहीं रह जाते। क्या कालिदास की आवाज आज भी हमारे लिए प्रेरणा नहीं दे सकती—वह रघुवंश (६।७७) की आवाज—

आरूढमद्रीन् उदधीन् वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥

आज भी कालिदास यह कहते सुनाई देते हैं कि पर्वतों और

सागरों को लांघता हुआ भारत का यश फैल गया, पाताल और आकाश में भी भारत का यश छा गया। और जैसे यह बात वह विशेष जोर देकर कह रहे हों कि भारत के यश की कोई सीमा नहीं, क्योंकि यह सुकर्मों के साथ फैलने वाला है।

मेरे मित्र ने कहा, 'कालिदास की भांति आज का साहित्यकार भी अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रखे तो वह न केवल अपने देश और राष्ट्र के लिए गर्व की वस्तु हो सकता है, बल्कि उसकी प्रेरणा का यश भी युग-युग की सीमाओं को लांघता हुआ चिरंजीवी साहित्य की रचना में समर्थ हो सकेगा।'

मैंने कहा, 'यह तो तभी हो सकता है जबकि एक-एक साहित्यकार एक-एक भगीरथ बन जाय। गंगा अवतरण के लिए भगीरथ ने जो प्रयत्न किया था उसकी गाथा हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रतीक भी हो सकती है।'

इस पर चर्चा का रुख ऐसे कवियों की ओर मुड़ गया जो अपने को राष्ट्रीयता के पुजारी समझते हैं। हमारा इस बात पर एकमत था कि यद्यपि इन कवियों की बहुत-सी रचनाएं तो भरती की चीज ही होती हैं, फिर भी हमें इनका महत्व स्वीकार करना होगा। इनमें भी प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के लोग हैं, जैसा कि दूसरे क्षेत्रों में हम देखते हैं। हमारा इस पर भी एकमत था कि खूबी इसी में नहीं कि कवि क्या कहता है, बल्कि खूबी इसमें है कि कवि कैसे कहता है, अर्थात् कहते समय वह कितना छोड़ता है और कितना कहता है, क्योंकि बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएं तो इसीलिए व्यर्थ नजर आने लगती हैं कि उनमें भावना की अति दिखा दी जाती है, जैसे सब कुछ बस एक ही कविता में कह डालना हो। इससे बहुत-सी तथा-कथित राष्ट्रीय कविताएं बेकार हो जाती हैं। जो न कह कर भी कहा जा सके; जब तक साहित्यकार की इस सत्य तक पहुँच नहीं होती, वह

युग की सीमाओं में बन्ध कर कोई ऐसी बात नहीं कह सकता जो युग-युग तक जीवित रह सके। ऐसी बहुत-सी तथाकथित राष्ट्रीय कविताएं समाचार पत्रों में हर रोज छपा करती हैं जिनका मूल्य उसी रोज खत्म हो जाता है; अगले ही दिन वे बेचारी पुरानी पड़ जाती हैं, फीकी लगने लगती हैं। सच पूछो तो इस प्रकार की सस्ती कविताएं एक दलदल का रूप धारण कर लेती हैं। बस कवि इस दलदल में फंसा कि वह वहीं का हो रहा। फिर वह लाख छटपटाये, इस दलदल से वह कैसे निकल सकता है ?

मैंने हंस कर कहा, 'आप को एक प्रेमचन्द के स्मारक की चिन्ता है। मुझे यह भय है कि कल को यदि कोई इन तथा-कथित राष्ट्रीय कवियों के स्मारकों की बात ले बैठा तो मामला गड़बड़ा जायगा। मान लो कि इन लोगों के भी स्मारक बनने लगें तो पैर धरने की भी जगह नहीं रह जायगी।'

'पर शुक्र है ! इन कवियों की गिनती इतनी अधिक तो नहीं', यह कह कर वह हंस पड़े।

अभी उस रोज एक दूसरे मित्र बोले, 'अब जब भारत स्वतन्त्र हो चुका है तो मेरे विचार में राष्ट्रीय कवियों और साहित्यकारों को आगे आना चाहिए। पर मामला उल्टा है। वे पीछे हट रहे हैं।'

मैंने कहा, 'जब तक स्वतन्त्रता नहीं आई थी, स्वतन्त्रता का स्वप्न हमारे इन राष्ट्रीय कवियों को प्रिय लगता था। अब जब स्वतन्त्रता आ गई तो उन्होंने एक आध कविता लिख कर इसका स्वागत कर लिया। अब इससे अधिक आप उनसे क्या चाहते हैं ?'

वह बोले, 'आज तो उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई है। उन्हें यह अवश्य समझना चाहिए।"

मैंने कहा, 'इन भले लोगों में बहुत से कवि तो केवल फैशन के राष्ट्रीय कवि थे । उन्हें राष्ट्रीयता की कथा एक परी की कथा प्रतीत होती थी। अब जब स्वतन्त्रता आ गई तो शायद हमारे उन कवियों के लिए राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता का तिल्लस्म टूट गया। अब वे क्या लिखें ?'

वह फिर बोले, 'मैं केवल कवियों की बात ही नहीं करता। समूचे साहित्यकार वर्ग को लीजिए। आज लेखक का क्या धर्म है, उसकी क्या जिम्मेदारी है, यह वह भूल गया।'

'तो क्या आप समझते हैं कि आज लेखक अपने मार्ग से पीछे हट रहा है ?'—मैंने पूछ लिया।

'कुछ हद तक यही कहना होगा,' वह बोले, 'हमारे नेता तो आज सरकार का काम चला रहे हैं; उन्हें तो आज पहले की तरह जनता के सम्मुख आकर बोलने की फुरसत नहीं। जनता हैरान है।'

'हैरान भी और परेशान भी,' मैंने हंस कर कहा।

'हाँ, हाँ,' वह बोले, 'मैं समझता हूँ कि आज हमें अपने लेखकों की सब से अधिक आवश्यकता है। आज जनता पथ-प्रदर्शन चाहती है। पर मैं हैरान हूँ कि लेखक आगे क्यों नहीं आ रहे। वे पीछे क्यों हट रहे हैं ?'

मैंने चुटकी लेते हुए कहा, 'शायद हमारे लेखक नाराज हो गये हैं कि उन्हें क्यों सरकार ने अभी तक याद नहीं किया।'

'मैं आपका मतलब नहीं समझा,' वह कह उठे, 'अभी हमारे देश को स्वतन्त्रता मिले एक वर्ष हुआ है, फुरसत मिलने पर सरकार अवश्य लेखकों की ओर ध्यान देगी।'

'आपका मतलब है कि लेखकों की भी कभी उतनी ही कद्र हो सकेगी जितनी कि राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की हुई है ?'—मैंने फिर चुटकी ली।

'नहीं, मेरा मतलब यह तो नहीं कि सरकार लेखकों को भी सरकारी नौकरियां देगी,' वह बोले, 'और हमारे लेखकों को नौकरियों की इतनी परवाह होनी भी नहीं चाहिए। उन्हें तो यह समझ लेना चाहिए कि सरकार हमारी है और हम सरकार के हैं।'

'पर, भाई साहब,' मैंने कहा, 'लेखक बेचारा भी क्या करे? वह भी इस दुनिया में रहता है। महंगाई का यह हाल है कि लेखक बेचारे की गुजर भी नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता तो आई, पर लेखक की कठिनाइयां वैसी की वैसी बनी रहीं। उसका आर्थिक मूल्य जरा भी तो नहीं बढ़ा। उसे घर-घर पत्नी की फटकार सुननी पड़ती है। ऐसे में वह क्या लिखे?'

वह बोले, 'यह आप क्या कह रहे हैं? सच्चे कवि और साहित्यकार को तो कभी घबराना नहीं चाहिये।'

'पर सत्य यही है, मित्रवर,' मैंने कहा, 'कि लेखक भी आदमी है। कविताओं से घिरा हुआ आदमी। वह भी घबरा जाता है।'

'मैं तो समझता हूं,' वह फिर बोले, 'कि सच्चा साहित्यकार वही है जो जीवन के एक-एक आघात को हंसकर सह ले। उसे यह तो कभी सोचना ही नहीं चाहिए कि उसे एक कविता या लेख पर इतने रुपये मिलेंगे और ये कम हैं। जब लेखक के दिल में चांदी के रुपये ने स्थान पा लिया तो समझिए कि वह चांदी के रुपये का गुलाम हो गया। फिर चांदी का रुपया ही तो उससे लिखवायेगा, वह लिखेगा। और सच पूछो तो ऐसा लेखक जनता का उद्धार नहीं कर सकता।'

मैंने कहा, 'भाई साहब, क्षमा कीजिए। यहां मैं आप से सहमत नहीं हो सकता। आप चाहें तो मुझे चांदी के रुपये का गुलाम समझ सकते हैं।'

वह बोले, 'हम स्वतन्त्रता की वर्षगांठ मनाने जा रहे हैं यह बात आप के मुख से शोभा नहीं देती। मुझे ही लो। मैं नौकरी करता हूँ। पर मैंने अभी तक वह कुरता और धोती, जो मैं इस नौकरी में आने से पहले पहनता था, संभाल कर ट्रंक में रख छोड़ी है। जब भी दफ्तर में कोई ऐसी वैसी बात हो जाती है, सच मानो वह ट्रंक में बन्द कुरता और धोती यह कहते सुनाई देते हैं—'हम जो हैं, तुम्हें फिर चिन्ता काहे की ?...आप मेरा मतलब समझ ही गए होंगे।'

मैंने कहा, 'आप यही कहना चाहते हैं न' कि आप सदैव इस बात के लिए तैयार रहते हैं कि यह नौकरी छोड़ कर फिर से वही कुरता और धोती पहन लें और फिर से स्वतंत्र लेखक के रूप में मैदान में आ कूदें।'

उस समय मुझे अपने इस मित्र के साहस की दाद देनी चाहिये थी। पर साथ ही मुझे जीवन की कठिन समस्याओं का ध्यान आ गया और मैं यह सोच कर रह गया कि जहां हम लेखक से यह आशा रखते हैं कि उसे सदैव अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रहे, वहां हमें इस बात की भी चिन्ता रहनी चाहिए कि वह बदलते हुए युग के बदलते हुए मूल्यों में खड़ा रह सकता है या नहीं। यदि स्वतंत्र भारत यह चाहता है कि लेखक अपनी रचनाओं द्वारा जनता के मानसिक भोजन का प्रबंध करे तो स्वतंत्र भारत की नौका के खेने वालों को भी अपनी जिम्मेदारी का अनुभव अवश्य होना चाहिए। अब प्रश्न रह जाता है कि लेखक की जिम्मेदारी है क्या ? उसका उत्तर सहज है। लेखक को यह फैसला करना है कि वह जन-शक्ति को एक ऐसे नये समाज के निर्माण की ओर ले जाय जिसमें सब सुखी हों, सब बराबर हों।

यात्रा का अन्त

गांधी जी की हत्या का विषादपूर्ण समाचार सुनकर एक दस वर्षीय अमेरिकन बालक कह उठा, 'काश, किसी ने रिवाल्वर बनाने की कला न सीखी होती !'

राह चलता एक अमेरिकन किसान पास से जाती हुई एक महिला को रोक कर बोला, 'हर कोई तो संसार भर में यही समझता था कि गांधी अच्छा आदमी है। उन्होंने उसे क्यों मार डाला !'

इन दोनों का उल्लेख अमेरिका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल-बक ने गांधीजी की हत्या पर अपने हृदयस्पर्शी वक्तव्य में किया है। यह बालक उसका अपना पुत्र था जिसने अपनी माता ही की भांति आज तक गांधीजी के दर्शन नहीं किये थे, केवल उनकी चर्चा ही सुनी थी। मैं भारत की राजधानी के इस छोटे से मकान के एक कोने में बैठा हूँ। मुझ में इतनी सामर्थ्य अवश्य है कि अपनी कल्पना की सहायता से सुदूर अमेरिका के एक परिवार में इस बालक का चेहरा देख सकूं, उसकी माता ने निश्चय ही अपने पुत्र की सूझ-बूझ की दाद देते समय उसका

मुंह चूम लिया होगा, यद्यपि पर्लवक के वक्तव्य में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया। यह किसान भी, जिसने पर्लवक को एकआध क्षण के लिए रोक कर उसके सन्मुख एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित किया, उसी मानवता का प्रतीक है जिसकी एक इकाई हमें एक बालक में दिखाई दे रही है।

स्थान और समय की सीमाएं लांघ कर मानव से मानव मिलने के लिए तड़प रहा है; या यह कहिए, जैसाकि मैंने कहीं पढ़ा था, यह संसार एक असीम संसार है जिसमें प्रत्येक मानव एक द्वीप की भांति स्थित है, और सदैव नहीं तो कभी-कभी ये द्वीप एक दूसरे के स्पर्श के लिए अवश्य उत्सुक हो उठते हैं। वह बालक अवश्य गांधीजी के अन्तिम दर्शन के लिए तड़प उठा होगा; वह किसान भी। और कौन जाने कितने देशों में कितने बालक और कितने किसान गांधीजी की हत्या की खबर सुनकर इसी प्रकार एक पीड़ा-सी अनुभव करके रह न गये होंगे? उस किसान को सांत्वना देते हुए पर्लवक ने कहा, मैं तो समझती हूँ उन्होंने उसे वैसे ही मार डाला जैसे उन्होंने ईसा को मार डाला था !'

प्रत्येक देश में गांधीजी की इतनी साख थी कि उनकी मृत्यु पर किसी को आसानी से विश्वास ही नहीं हुआ होगा। वह हमारे बीच से इतनी जल्दी कैसे उठ गये जब कि हमें उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, यह बात बहुतों ने सोची होगी।

एक तांगे वाला कह रहा है,'गांधीजी तो कोई ऋषि थे। वह कह चुके थे कि देश को स्वराज्य दिलाये बिना मैं मरूंगा नहीं वराज्य की तिथि बदलवा कर उन्होंने पहले ही देश को स्वराज्य दलवा दिया। उन्हें पता था कि वह अब अधिक देर नहीं जीयेंगे।'

मैं इस तांगे वाले की ओर बड़े ध्यान से देखता हूँ। उसकी आंखें मेरी ही भांति आंसुओं से भीग गई हैं। मैं उससे पूछता हूँ कि क्या वह उस तांगे वाले का भाई तो नहीं जिसने

कहा था,'जब कभी शाम के समय कोई मुझे बिरला हाउस जाने को कहता है तो मैं भाड़ा ठहराये बिना चल पड़ता हूं,क्योंकि इस बहाने मुझे गांधीजी की प्रार्थना-सभा का रस मिल जाता है।'

जब कभी गांधीजी मृत्यु की बात छेड़ देते तो यों लगता कि वह व्यंग्य में यह बात कह रहे हैं। कलकत्ता के कत्लेआम से उनकी आत्मा पर गहरा घाव लगा, यह बात उनके निकटवर्ती खूब जानते थे। वह हृदय से यही चाहते थे कि यह कत्लेआम फिर न दोहराया जाय। शांति गंवाकर स्वतन्त्रता पाने की बात वह कभी सोच ही नहीं सकते थे। परन्तु जब कलकत्ता की आग नोआखाली तक जा पहुँची और मानवता की पुकार गांधीजी के कानों तक पहुँची तो वृद्धावस्था में वह नोआखाली के लम्बे रास्ते पर नंगे पैरों घूमने के लिए चल पड़े। विश्व-शान्ति के एक बटोही का चित्र आज भी मेरी आंखों के सामने घूमने लगता है, उनके पीछे-पीछे चलने वाले यात्रियों में मैं अपनी गिनती भी करने लगता हूँ। सोचता हूँ मैं तो नोआखाली नहीं गया था। पर मैं नोआखाली से एकदम अपरिचित भी तो नहीं हूँ। नोआखाली के पश्चात् बिहार में मार-काट शुरू हुई। घृणा का उत्तर घृणा नहीं : नोआखाली का बदला बिहार में नहीं लिया जा सकता—गांधीजी की यह वाणी देश के वातावरण में गूंज उठी। बिहार में यह आग बुझ गई तो पंजाब में भड़की, फिर बम्बई में, फिर कलकत्ता में। और आज भी जब इस बात की कल्पना करता हूँ कि कलकत्ता में गांधीजी ने किस प्रकार जनता के भड़के हुए हृदयों को फिर से शांत किया तो मैं उन्हें समय और स्थान की सीमाओं को लांघ कर मानवता की एकता के मन्त्रद्रष्टा की भांति युग-युग की परम्परा को अग्रसर करते अनुभव करता हूँ कलकत्ता से वह दिल्ली लौट आये और यहीं जम गये। उन्होंने यहीं अन्तिम उपवास रखकर प्राणों की बाजी लगाई। हमने

उनके सम्मुख बैठकर शपथ ली कि उनके इस सिद्धांत को कभी नहीं भूलेंगे कि सब भाई-भाई हैं और समस्त देश एक है। वह प्रार्थना-सभा में सम्मिलित होने की बात सदैव याद रखते थे। एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि वे बन्दियों की विनय स्वीकार करते हुए जेल के भीतर जाकर प्रार्थना-सभा का आयोजन करने के लिए तैयार हो गये। एक-दो बार किसी न किसी ग्राम में प्रार्थना की गई। वही भजन, वही रामधुन। वही मानवता में सनी हुई वाणी। इसी वाणी को सदैव के लिए चुप कराने को किसी ने बिरला हाउस की एक प्रार्थना-सभा पर बम फेंका। गांधीजी साफ बच गये। कहते हैं उन्होंने गर्दन तक नहीं हिलाई थी। बम फेंकनेवाला पकड़ा गया। अगली शाम की प्रार्थना-सभा में उन्होंने सरकार से विनय की कि अपराधी के साथ नरमी का बरताव किया जाय। सरकार ने बहुत कहा कि अब भविष्य में प्रार्थना-सभा में जानेवालों की तलाशी लेने का नियम लागू कर दिया जाय। पर गांधीजी ने इसकी स्वीकृति नहीं दी। और ३० जनवरी को संध्या समय जब वह प्रार्थना के लिए अपने कमरे से निकले, एक उन्मत्त हत्यारे हिन्दू युवक ने अपनी जेब से पिस्तौल निकालकर उन पर तीन गोलियां चलाईं। देखने वाले बताते हैं कि गांधीजी के हाथ मृत्यु का अभिनन्दन करने के लिए उठे और वह क्षणभर बाद ही धरती पर गिर गये। कुछ लोगों ने हिम्मत करके हत्यारे को पकड़ लिया। रेडियो पर तुरन्त दुखद समाचार प्रसारित कर दिया गया। रक्त से लथपथ शरीर उसी समय बिरला हाउस के भीतर उसी कमरे में ले जाया गया जहां वह ठहरे हुए थे।

कमरे में हर कोई निराशा से बापू के शव की ओर निहार रहा था। पास बैठे एक सज्जन से पता चला कि वह बहुत दिनों से बापू के स्नेही हैं और इन्हीं दिनों उन्होंने एक पुस्तक लिखी

थी—प्रकाशस्तम्भ। इसमें तीन जीवन-कथाएं दी गई हैं—गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मालवीयजी। कुछ दिन पहले लेखक महोदय ने यह पुस्तक गांधीजी को भेंट की तो वह हंसकर कह उठे, 'तीनों में मैं ही जीवित हूँ!' ठण्डी सांस भरकर लेखक महोदय ने बापू की ओर देखा और कहा, 'आज बापू भी बाकी दोनों में सम्मिलित हो गये!' इनके स्वर विषादपूर्ण हो उठे थे। हमारे हृदय विषाद से सने हुए हैं, और हम यह नहीं सोच सकते कि गांधीजी का वास्तविक स्मारक किस रूपरेखा पर निर्मित किया जाय। परन्तु इतना तो सत्य है कि गांधीजी अमर हो गये, और जो कार्य वह जीते जी नहीं कर सके, वह मृत्यु के पश्चात अब अवश्य पूर्ण होगा।

गुरुदेव के बंगला गान के शब्दों में हम एक स्वर होकर गांधीजी को श्रद्धांजलि अर्पण कर सकते हैं, जिसका अर्थ यह है—मरण-सागर के उस पार तुम अमर हो गये हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।

निखिल विश्व को तुम अपना ही घर बनाकर चले गये हो
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
संसार में जो नवीन आलोक दीप तुम जला गये
उसकी जय हो, जय हो, जय हो,
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
सत्य की वरमाला से वसुधा को तुम सुशोभित कर गये
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
जो वाणी, सन्देश तुमने हमारे लिए छोड़ा है वह
भयहीन है, शोकहीन है।
जय हो, जय हो, उसकी जय हो।
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।

जनपद-संस्कृति

"यह जनपद क्या बला है, अग्रवालजी ?" मैंने हैरान होकर पूछ लिया था, क्योंकि मेरे लिये यह शब्द एक दम नया था—कोरे घड़े की तरह नया। यह बात सन् १६३७ की है, जब मैं ब्रज के लोकगीत संग्रह कर रहा था।

अग्रवालजी ने तनिक चकित होने की बजाय पुरानी गाथा छेड़ दी और बताया कि महाभारत, भीष्म-पर्व अध्याय ६, और मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणों में जनपदों की अनेक सूचियां मिलती हैं। मैं अभी जनपद शब्द की ध्वनि और आधुनिक भाषा में इस शब्द के प्रयोग पर ही विचार कर रहा था। इस बीच में अग्रवालजी के मुख से इतनी बार यह शब्द सुनने को मिला कि बहुत शीघ्र यों प्रतीत होने लगा कि यह तो कोई वर्षों का बिछड़ा साथी है जो फिर से आन मिला है और अब तो हर किसी से यही कहना होगा—अरे भाई इस जनपद शब्द से बिदकने की आवश्यकता नहीं, यह तो अपनी ही मातृभूमि की उपज है, जैसे यह कोई धरती का लाल हो और धरती की सुगन्ध इसकी श्वास में रम गई हो।

देश के मानचित्र की ओर संकेत करते हुए अग्रवालजी बार-बार देश की भाषाओं तथा बोलियों की चर्चा छेड़ देते, और बीच-बीच में जनपद शब्द नगीने की भांति जड़ दिया जाता जिससे इसकी आभा स्वतः मेरा ध्यान आकर्षित कर लेती। एक दिन अग्रवालजी बोले:—

"मौलिक अधिकार" सम्बन्धी प्रस्ताव जिसे अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में अगस्त १९२८ में स्वीकार किया था, स्पष्ट शब्दों में कहता है, 'अल्प संख्यक जातियों और विभिन्न भाषा-क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा।'

मैंने कहा, 'यह तो नितान्त आवश्यक है।'

अग्रवालजी की मुखाकृति उस समय कुछ ऐसी थी जैसे वे कह रहे हों कि देश के जनपद हमें पुकार रहे हैं क्योंकि अब तक तो हम एक-एक जनपद की संस्कृति की आवाज़ को सुना अनसुना करते आये हैं। उस समय वे कदाचित् पुरातन जनपदों को देश के मानचित्र पर पृथक-पृथक और कुछ-कुछ उभरे हुए देखने के लिए लालायित हो उठे थे।

सन् १९३७ की बात आज बहुत पुरानी हो गई। मुझे याद है मैंने अग्रवालजी के सम्मुख हँसते-हँसते एक दिन अंगरेज़ी साहित्य के एक लोकप्रिय चुटकले की ओर संकेत करते हुए कहा था, 'वही बात हुई कि कोई किसी से पूछ बैठे कि गद्य किसे कहते हैं और उत्तर में यह सुन कर कि यह जो तुम बोल रहे हो यह गद्य ही तो है', झट यह कह उठे, 'तो अब तक मैं गद्य की रचना करता रहा हूँ। मुझे ही लो। कितने वर्षों से मैं अनेक जनपदों की खाक छानता रहा। किन्तु मुझे यह ज्ञात न था कि इन प्रदेशों को जनपद कहते हैं।'

उन दिनों मथुरा में श्रीसत्येन्द्र से भी भेंट हुई। मैंने

श्रीसत्येन्द्र और अग्रवालजी की देख-रेख में ब्रज के अनेक लोक-गीत प्राप्त किये। श्रीसत्येन्द्र को मैंने अपने समीप अनुभव किया। किन्तु अग्रवालजी का प्रकाण्ड ज्ञान और अनुभव एक विशाल पर्वत की भाँति सिर उठाये खड़ा दृष्टिगोचर होता। एक ओर उनका पुरातन संस्कृत-साहित्य का अध्ययन और दूसरी ओर पुरातत्व शास्त्र में उनका जीवित अधिकार। मैं उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता और अजायबघर के भीतर पड़ी हुई मूर्तियों इत्यादि से परिचय बढ़ाते समय अपने इस मित्र की ओर आँखें उठाते समय शत-शत अनुग्रह जताये बिना न रह सकता। फिर भी कभी-कभी यह भय प्रतीत होता कि कहीं मैं ग्रन्थों और मूर्तियों के बीचोबीच एक प्रकार से समोसा न बन जाऊँ उस समय मैं या तो किसी ग्राम की ओर निकल जाता या श्रीसत्येन्द्र के सिरहाने जम कर बैठ जाता ताकि वे कठिन शब्दों का अर्थ बता सकें और अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों का महत्त्व और सौन्दर्य समझने में सहायक हो सकें।

जब कभी अग्रवालजी लोक गीतों की प्रशंसा में कुछ कहते सुनाई देते मुझे यों लगता कि यह विशाल पर्वत किसी महान् पुरातन की भाँति झुक कर नई पीढ़ी के व्यक्ति को स्पर्श करने का यत्न करते हुए आशीर्वाद दे रहा है। लोकवर्ता के वैज्ञानिक अध्ययन की बात वस्तुतः श्रीसत्येन्द्र ने उठाई थी, और मुझे याद है कि शुरू-शुरू में यह बात सुन कर यह सन्देह होने लगा था कि श्रीसत्येन्द्र भी अब मुझ से दूर होने की बात सोच रहे हैं। 'यह वैज्ञानिक अध्ययन क्या बला है ?'—मैं उससमय ठीक नहीं समझ सका था। फ्रेजर की 'गोल्डन बाउ' का उल्लेख करते हुए, मुझे याद आया, एक बार इससे पूर्व श्री स० ह० वात्स्यायन ने भी लोक गीत की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ओर विशेष ध्यान देने की बात कही थी।

अग्रवालजी का 'पृथ्वी पुत्र' शीर्षक लेख, जो कदाचित १६४१ में प्रकाशित हुआ था, जनपद-संस्कृति के गौरव-गान का महान परिचायक सिद्ध हुआ । इसके पश्चात् अग्रवालजी ने 'पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना' उपस्थित की जिसकी रूप रेखा पर ध्यान देना और इस योजना को कार्य-रूप में परिणत करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है—

वर्ष १. साहित्य, कविता, लोक-गीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज और संग्रह । वैज्ञानिक पद्धति से उनका प्रकाशन और सम्पादन ।

वर्ष २. भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सांगोपांग अध्ययन अर्थात् उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान, शब्द-कोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन ।

वर्ष ३. स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास स्थानीय पुरातत्व और शिल्प का अध्ययन ।

वर्ष ४. पृथ्वी के भौतिक रूप का समग्र परिचय प्राप्त करना—अर्थात् वृक्ष, वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धों का अध्ययन ।

वर्ष ५. जनपद के निवासी-जनों का सम्पूर्ण परिचय—अर्थात मनुष्यों की जातियां, लोक का रहन-सहन, कर्म-विश्वास और रीति-रिवाज, नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव-मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ, इन सबकी बारीक छान-बीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत करना ।

यह पंचविधि योजना वर्षानुक्रम से पूरी की जा सकती है, अथवा एक साथ ही क्षेत्र में कार्यकर्ताओं की इच्छानुसार

प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्य का विवरण प्रकाशित होता रहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्र के साधनों को एकत्र करके 'मधुकर', 'व्रजभारती' और 'बान्धव' के ढंग के पत्र प्रकाशित करे तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्ताओं की सूची तैयार करनी चाहिए और कार्य के सम्पादन के लिये विविध समितियों का संगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ कुछ समितियों के नाम ये हैं:—

१. भाषा समिति--जनपदीय भाषा का अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोष का निर्माण। धातु-पाठ और पारिभाषिक शब्दों का संग्रह इसी के अन्तर्गत होगा।

२. भूगोल या देश दर्शन समिति—भूमि का आंखों देखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना।

३. पशु-पक्षी समिति--अपने प्रदेश के सत्वों की पूरी जांच-पड़ताल करना इस समिति का कार्य होना चाहिए। इस विषय में लोगों की जानकारी से लाभ उठाना, नामों की सूचियां तैयार करना, अंगरेजी में प्रकाशित पुस्तकों से नामों का मेल मिलाना आदि विषयों को अध्ययन के अन्तर्गत लाना चाहिए।

४. वृक्ष-वनस्पति समिति—पेड़, पौधे, जड़ी, बूटी, फूल-फल, मूल, सबका विस्तृत संग्रह तैयार करना।

५. ग्राम-गीत-समिति—लोकगीत, कथा-कहानी आदि के संग्रह का कार्य।

६. जन-विज्ञान समिति—विभिन्न जातियों और वर्णों में लोगों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों का अध्ययन।

७. इतिहास पुरातत्त्व समिति--प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व की सामग्री की छान-बीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन। पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाई का भी प्रबन्ध करना।

८. कृषि-उद्योग समिति—जनता के कृषि-विज्ञान, उद्योग

धन्धों और खनिज पदार्थों का अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए, अपने लोक का रुचि के साथ एक सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजना का उद्देश्य है।'

अग्रवालजी की इस पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना' से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने हरिद्वार अधिवेशन (१६४२) में एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

'इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशु-पक्षी, वनस्पति, ग्राम-गीत, जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहां की उपज का अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। उस समिति में निम्नलिखित विद्वान हों—सर्व श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, अमरनाथ झा, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र और चन्द्रवलि पाण्डेय (संयोजक)।'

यहां यह वता देना उचित प्रतीत होता है कि अग्रवालजी सम्मेलन के अधिवेशन पर उपस्थित नहीं थे, और मुझे उनकी अनुपस्थिति बुरी तरह अखर रही थी। मुझे याद है इस प्रस्ताव पर सम्मेलन में काफी वाद-विवाद हुआ था, और यदि अधिवेशन के प्रधान श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से न अपनाया होता तो यह प्रस्ताव कदापि स्वीकृत न हो पाता।

वाद में जनपद-समिति में कदाचित् मेरा नाम भी जोड़ लिया गया था, और जव समिति के संयोजक श्रीचन्द्रवलि पाण्डेय के पत्र आने लगे तो मैंने इस कार्य में पूर्ण सहयोग देने का निश्चय कर लिया था। इस सम्वन्ध में अग्रवालजी ने भी मुझे भरसक प्रोत्साहन दिया और लिखा कि अब वहुत प्रतीक्षा के

वाद कार्य का अवसर आया है।

इसी बीच में श्रीवनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विकेन्द्रीकरण' का आंदोलन आरम्भ कर दिया। उधर सितम्बर १९४३ के 'हंस' में 'मातृभाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख लिख कर श्रीराहुल सांकृत्यायन ने इस आंदोलन को स्वस्थ जनवादी आधार प्रदान किया। इससे एक वर्ष पूर्व 'हंस' में प्रकाशित 'पाकिस्तान और जातियों का सवाल' में राहुलजी ने लिखा था कि पाकिस्तान वस्तुतः अलग-अलग संस्कृतियों और भाषाओं का राष्ट्र-संघ होगा जिसमें सिन्धी, विलोची, पंजावी और पश्तो आदि भाषायें जीवित रहेंगी, और इसी प्रकार हिन्दुस्तान भी एक वहुजातिक राष्ट्र होगा। राहुलजी ने जनवादी दृष्टिकोण से यह वात जोर देकर लिखी थी कि हिन्दुस्तान में अधिक नहीं तो ७३ भाषाएं और ७३ जातियां होती हैं। राहुलजी ने यह भी कहा था कि दोनों जाति-संघ जनतन्त्रवादी होने चाहियें। और जनता को साक्षर वनाने के प्रश्न पर उन्हें विशेष ध्यान देना होगा, क्योंकि जैसा कि उनका विचार था, थोथी भावुकता और काल्पनिक अखंडता के नाम पर एक विजातीय भाषा लादने से कुछ वात नहीं वनेगी, क्योंकि जनता को नया ज्ञान देते समय जनता की अपनी भाषा ही ठीक माध्यम वन सकती है और एक नई भाषा उस पर लादने से शीघ्रातिशीघ्र नया ताव देने की समस्या हल नहीं होगी। राहुलजी ने मातृभाषा में शिक्षा के भविष्य की व्यवस्था निश्चित करते समय यह वात भी स्पष्ट कर दी थी कि अन्तर्प्रांतीय भाषा का स्थान सुरक्षित रहेगा, अर्थात् पाकिस्तान राष्ट्र में उर्दू अन्तर्प्रान्तीय भाषा वनेगी तो हिन्दुस्तान में हिन्दी (साहित्यिक खड़ी वोली) को ही यह स्थान मिलेगा। 'मातृ भाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख में भी यह वात खुले शब्दों में कही थी, 'आज के युग में एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना

वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात होगी। इसलिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं करते। रोज के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यक आदान-प्रदान के साधन के तौर पर भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा, इसे भी हमें मानना पड़ेगा।'

हां, राहुलजी ने यह बात जोर देकर कही थी कि विभिन्न भाषा-प्रदेशों में मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना पड़ेगा। क्योंकि मातृभाषा सीखने में विलम्ब नहीं होता। राहुलजी ने रूस का उदाहरण देते हुए लिखा था कि एशिया के तुर्कमान, उजबेक, किर्गिज और कजाक जातियों में शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति हुई है क्योंकि वहां सोवियत शासन ने मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया है जब कि लाल क्रान्ति के पूर्व न इन भाषाओं की कोई लिपि ही थी और न कोई लिखित साहित्य ही। 'मातृभाषाओं के जनपदों की सूची' जो राहुलजी ने अपने लेख में उपस्थित की थी, इस प्रकार है:—

भाषा	जनप	राजधानी
हिन्दवी	पश्चिमी पंजाब	रावलपिण्डी
मध्य-पंजाबी	मध्य पंजाब	लाहौर
पूर्वी-पंजाबी	पूर्वी पंजाब	लुधियाना
सिन्धी	सिन्ध	कराची
मुल्तानी	मुल्तान	मुलतान
काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
प० पहाड़ी	त्रिगर्त	कांगड़ा
हरियानी	हरियाना	दिल्ली
मारवाड़ी	मारवाड़	जोधपुर
वैराटी	विराट	जयपुर
मेवाड़ी	मेवाड़	उदयपुर

मालवी	मालवा	उज्जैन
बन्देली	बुन्देलखण्ड	झांसी
ब्रज	सूरसेन	आगरा
कौरवी	कुरू	मेरठ
पंचाली	रुहेलखण्ड	बरेली
गढ़वाली	गढ़वाल	श्रीनगर
कूर्मांचली	कूर्मांचल	अलमोड़ा
कौसली	कौसल (अवध)	लखनऊ
वात्सी	वत्स	प्रयाग
चैदिका	चेदि	जबलपुर
बघेली	बघेलखण्ड	रीवा
छत्तीसी	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
काशिका	काशी	बनारस
मल्लिका	मल्ल	छपरा
बज्जिका	वज्जी	मुजफ्फरपुर
मैथिली	विदेह (तिर्हुत)	दरभंगा
अंगिका	अंग	भागलपुर
मागधी	मगध	पटना
संथाली	संथाल परगना	जसीडीह

राहुलजी द्वारा उपस्थित की हुई इस सूची पर वैज्ञानिक तथा राष्ट्रीय-दृष्टि से विचार नहीं किया गया। वह सूची उपस्थित करते समय राहुलजी ने समग्र देश को सामने नहीं रखा। पाकिस्तान बनने से पूर्व का उत्तर भारत ही उनके सम्मुख रहा है। 'हिन्दी' 'मध्य पंजाबी' और पूर्वीय पंजाबी—पंजाबी के यह तीन विभाग अलग-अलग होते हुए भी आधुनिक विकसित पंजाबी भाषाओं में समा गये हैं, और इन्हें अलग-अलग रूप में विकसित होते देखने की भावना राष्ट्रीय-दृष्टि से उतनी ही

अस्वस्थ होगी जितनी कि बंगला भाषा के आधुनिक विकास की ओर दृष्टि न देकर फिर से पूर्वीय बंगला और पश्चिमी बंगला का अलग-अलग विकास देखने की भावना। इसी प्रकार जैसा राजस्थानी भाषा के आधुनिक आन्दोलन को सम्मुख रखते हुए कहा जा सकता है, मारवाड़ी, वैराटी, मेवाड़ी इत्यादि का अलग-अलग विकास होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अधिक से अधिक यही सम्भावना दीखती है कि ये तीनों भाषायें परस्पर मिल कर एक प्रकार की सम्मिलित राजस्थानी भाषा को विकास के मार्ग पर अग्रसर कर सकें। इस के अतिरिक्त वत्स, चेदि वज्जी तथा अंग इत्यादि जनपदों के पुरातन नाम कहां तक अशिक्षित जनता के लिए प्रेरणा और रचनात्मक स्फूर्ति के साधन बन सकेंगे, इस के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

एक बात तो प्रत्यक्ष है कि चतुर्वेदीजी के विकेन्द्रीकरण आन्दोलन और राहुलजी की जनपद सूची से हिन्दी-सम्मेलन की गति विधि का कोई तारतम्य न जुड़ सका और अनेक आशंकाएं उठ खड़ी हुईं। न जनपद कल्याणी योजना ही चल पाई, और न जनपद-सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा बनाई गई समिति ही कुछ कर सकी।

सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान पण्डित श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने एक प्रेस इन्टरव्यू में कहा, 'बहुत सम्भव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्ताव को रद्द कर दे।'

एक और अवसर पर माखनलालजी ने विशेष रूप से हिन्दी प्रान्तों की ओर संकेत करते हुए कहा था, 'इस प्रकार विभागीय संघर्ष उत्पन्न हो जायेंगे......मैं यह हर्गिज नहीं समझ सकता कि इन प्रान्तों की पाठ्य पुस्तकें वहां की बोलियों में छपने लगें। प्रान्तीय अभिमान को जाग्रत करना बुरी बात नहीं, परन्तु

इनके गृह-कलह से मुझे सम्पूर्ण हिन्दी जगत के नाश हो जाने का भय प्रतीत होता है।'

यही मनोवृत्ति आगे चल कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव में प्रकट हुई, 'प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों को पृथक-पृथक सभ्यता और संस्कृति का परिचायक बता कर जो संकुचित आन्दोलन कई प्रदेशों में किये जा रहे हैं, उनको यह सम्मेलन अवांछनीय समझता है। सम्मेलन की सम्मति है कि भारत की एक ही संस्कृति है और एक ही भाषा तथा संस्कृति से प्रभावित भाषायें तथा बोलियां देश में प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए ऐसे प्रांतीय शब्द कोषों की आवश्यकता है जिनमें प्रचलित और उपयुक्त तद्भव तथा तत्सम शब्दों एवं व्युत्पत्ति के आधार पर आन्तरिक एकता स्पष्ट हो जाय। यह सम्मेलन प्रान्तीय सम्मेलनों से अनुरोध करता है कि वे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा में इस कार्य को पूर्ण करने का प्रयास करें।'

इस प्रकार एक आवश्यक योजना को जान बूझ कर संकुचित कर दिया गया। जनपद संस्कृति की बात पर पानी फिर गया। गत वर्ष कराची में सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, किन्तु किसी को भूल कर भी यह ध्यान न आया कि जनपद योजना पर फिर से विचार किया जाय, और इस आवश्यक कार्यक्रम से राष्ट्र के जीवन में एक गति का संचार किया जाय।

काशी में अखिल भारतीय पी० ई० एन० सम्मेलन के सम्मुख '१६४५ से १६४७ तक' शीर्षक लेख पढ़ते हुए श्री स० हि० वात्स्यायन ने जनपद संस्कृति के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में कहा था, 'सबसे अधिक महत्वपूर्ण है हिन्दी के प्रदेश कहलाने वाले खण्ड में प्रादेशिक अथवा जनपदीय संस्कृतियों की जाग्रति। इस नई चेतना को ठीक परिपार्श्व में देखना और समझना

आवश्यक है। यह जाग्रति विभेद करने अथवा दल वनाने की प्रवृत्ति नहीं है, यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति के लोग आन्दोलन से लाभ उठाने के लिए इस से सम्बद्ध रहे हैं और रहेंगे। यह जाग्रति वास्तव में संस्कृति का पुनः जागरण है, संस्कृति को लोक जीवन में पुनः स्थापित गौर प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति, और लोक जीवन की पीठिका पर ही संस्कृति पुनरुज्जीवित और प्राणवान हो सकती है। जनता के दैनिक जीवन में प्रविष्ट होकर और उसका अंग वन कर ही कला और संस्कृति सशक्त और शक्ति प्रेरक हो सकती है, और उस विश्व-संस्कृति की नींव पड़ सकती है, जिसे लेकर हम इतना थोथा वाद-विवाद करते हैं। जैसा कि मैं कह चुका, हिन्दी साहित्य कभी तटस्थ नहीं रहा और अपने भीतर प्रकट होने वाली एक नई हलचल से भी डरने का कोई कारण नहीं देखता, क्योंकि वह इसे प्रादेशिक अथवा जनपदीय प्रतिभा के रूप में स्वीकार करता है। निस्सन्देह ऐसे लोग भी हैं जो सांस्कृतिक ऐक्य की दुहाई देकर विरोध का संगठित प्रयत्न करना चाहते हैं, किन्तु यह सन्तान को मां से वचने की अविवेकी चेष्टा है। जनपदीय संस्कृतियों का त्याग किसी एक परम्परा का वहिष्कार नहीं, परम्पराओं की जननी का बहिष्कार है।'

हमें आशा करनी चाहिए कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जनपद-संस्कृति के प्रस्ताव पर फिर से विचार करेगा, और इस ओर तटस्थ रहने की वजाय एक नया नेतृत्व प्रदान करेगा।

श्री जोग के जल-प्रपात

सर्व-प्रथम कलकत्ता में काका कालेलकर के मुख से जोग-प्रपात की चर्चा सुनी थी। वे बोले, 'जोग की झांकी' मेरा लेख जरूर पढ़ लेना। मैं यहां बैठा हूँ पर जोग का जल-प्रपात इतना ऊंचा है कि आंख बन्द करके मन में उसका चित्र देखने लगता हूँ, तो एकदम पुलकित हो उठता हूँ!'

मैंने कहा, 'मैं भी मैसूर जाकर जोग के दर्शन करूंगा। फिर मेरे मन पर भी इसका चित्र अंकित हो जायगा और मैं भी आंखें बन्द कर के उस चित्र की ओर झाँक लिया करूगा।'

पता चला कि जब काका कालेलकर ने पहली बार जोग देखने की ठानी, वे बापू के साथ दक्षिण की खादी-यात्रा पर थे। चलते-चलते वे शिमोगासागर तक जा पहुंचे जहाँ से जोग केवल पंद्रह मील रह गया था। जब बापू से कहा गया कि वे भी जोग देखने चलें, तो वे बोले, 'मैं ऐसी स्वच्छन्दता करने लगूं, तो स्वराज्य का काम कौन करेगा?' काका कालेलकर ने बहुत चाहा कि किसी तरह बापू का मन जोग देखने के लिये उत्सुक हो उठे, परन्तु उनका कहना-सुनना सब

बेकार गया। जब उन्होंने बड़े प्रभावशाली शब्दों में बताया कि जोग का जल नौ सौ साठ फीट की ऊंचाई से गिरता है, तो बापू ने हंस कर कहा, 'आकाश काजल तो इससे भी अधिक ऊंचाई से गिरता है !' इस पर काका को हार माननी पड़ी। उन्होंने चाहा, चलो महादेव भाई को ही साथ लेते चलें पर बापू की 'आज्ञा' तो जरूरी ठहरी। जब बापू के सामने यह प्रस्ताव रखा गया, तो वे हंस कर बोले, 'मैं ही महादेव भाई का जोग हूँ।' इतनी खैर हुई कि काका को राजाजी जैसा साथी मिल गया। काका ने बड़े प्रेरणामय शब्दों में विराट के इस विभूति-दर्शन का बखान किया। उन्होंने यह भी बताया कि 'जोग' हमारा स्वदेशी नाम है, इसका विदेशी नाम है 'गेरसप्पा फाल्स'। उत्तर कन्नड़ और मैसूर की सीमा पर स्थित यह जल-प्रपात दुनिया भर में सर्वश्रेष्ठ नहीं, तो सर्वश्रेष्ठों में से एक अवश्य है। लार्ड कर्जन ने इस देश की धरती पर पग धरते ही इस जल-प्रपात के दर्शन करने का कार्यक्रम बना लिया था और जिस स्थान पर खड़े हो कर उसने यह अद्भुत दृश्य देखा था, मैसूर स्टेट की ओर से उसे 'कर्जन-सीट' नाम दे दिया गया।

काका कालेलकर ने अपनी प्रथम जोग-यात्रा की चर्चा करते हुए यह भी बताया था कि उन्हें शीघ्र ही लौट जाना पड़ा था। और वे इस बात का पूरी तरह अनुभव भी न कर पाये थे कि इतनी ऊंचाई से कूदने के पश्चात् शरावती नदी आगे कहाँ जाती है, किस शान से अग्रसर होती है, एक नव-विवाहिता कुलवधू की भाँति उसकी वेशभूषा कितनी आकर्षक है, और सरित्पति के साथ उसका संगम प्रकृति के चित्र-पट को कितना रागात्मक व सजीव बनाता है। शरावती में नौका-विहार की इच्छा पूरी करने के लिए वे पूरे बारह वर्ष बाद वहां फिर जा पाये। उन्होंने बड़े विस्तार से बताया कि उनकी पहली और दूसरी जोग-यात्रा में

सबसे बड़ा अन्तर यह था कि जहां पहली बार वे शरावती के उद्गम से जोग तक पहुंचे, वहां दूसरी बार शरावती के मुख से प्रवेश करके नौका में प्रतीप-यात्रा करते हुए जोग की ओर गये, और जहां नौका का और आगे जाना असंभव हो गया, वहां से वे मोटर द्वारा पहाड़ की घाटी से होते हुए ऊपर राजा-प्रपात के सिर पर जा पहुंचे, जो एकदम नीचे ६६० फीट की गहराई में कूदता है और जिसे शत-शत जल-प्रपातों का सम्राट कहा जा सकता है।

इस अर्धचन्द्राकार दर्रे में चार जल-प्रपात हैं। राजा-प्रपात की बाईं ओर अपनी गर्जन से मीलों तक उस घाटी और आस-पास की पहाड़ियों को निनादित करता हुआ रुद्र-प्रपात (Roarer Fall) राजा के चरणों में गिरता है। राजा और रुद्र की अपनी अपनी शान है। वीरभद्र-प्रपात (Rocket Fall) की भी शान कोई कम नहीं, क्योंकि काका कालेलकर के कथनानुसार—'वह हाथी के कुंभस्थल के सदृश एक चट्टान पर जैसे ही गिरता है, उसमें से आतशबाजी के बाण जैसे सैकड़ों फव्वारे छूट पड़ते हैं···क्या यह शिवजी का तांडवनृत्य है? या महाकवि व्यास की प्रतिभा का नवनवोन्मेषशाली कल्पना-विलास है? या भूमिमाता के वात्सल्य की स्तनधार के फुहारे फूट निकले हैं? सचमुच वीरभद्र देखने वाली आंखों को पागल बना देता है।' वीरभद्र के बांई ओर पर्वत-कन्या पार्वती (Lady Fall) का लावण्य दृष्टिगोचर होता है। इन चारों प्रपातों के संरक्षण का भार उन बड़े-बड़े पहाड़ों ने ले रखा है, जो दाहिनी ओर खड़े हैं और प्रपातों की अठपहरिया अखण्ड गर्जना को प्रतिपल प्रतिक्षण प्रतिध्वनित किया करते हैं।

दूसरी जोग-यात्रा की चर्चा करते हुए काका कालेलकर ने बताया, 'गर्मी के दिन थे। भारंगी में पानी कम हो गया था।

भारंगी भी शरावती का एक नाम है। भारंगी अर्थात् बारह गंगा। शुरू में शरावती का यही नाम है। बीच में उसे शरावती कहने लगे हैं। अन्त में जहां वह समुद्र में गिरती है, उसे बाल-नदी कहते हैं। हां, तो भारंगी में पानी बहुत कम हो गया था। वीरभद्र की जटाएं भी देखने में नहीं आती थीं। रुद्र की छलांगें भी छोटी हो गई थीं। पार्वती भी मानों कोई विरहिणी ही तो थी। हमने सोचा, राजा का रूप तो क्या बदला होगा! लेकिन सच पूछो तो राजा भी बहुत कुछ बदल गया था, जैसे कोई सम्राट विश्वजित्-यज्ञ करने के बाद अकिंचन हो जाता है। हम मैसूर-राज्य की अतिथिशाला में ठहरे। उत्तर की ओर से हम जोग के दर्शन के लिए गये। ऊपर बड़ी धूप थी, नीचे फुहार थी। राजा का मुकुट हमारे सन्मुख था। नीचे की घाटी का वह दृश्य उस समय कितना अपूर्व हो उठा था! राजा की धारा नीचे धरती तक पहुंचने से पहले शतधा विदीर्ण हो कर सहस्रधारा ही तो बन गई थी। कुछ और नीचे इस सहस्रधारा के जल-बिन्दु मौक्तिक-माला की शोभा दिखा रहे थे। फिर और नीचे ये मौक्तिक भी चूर्ण हो कर मोटे-मोटे कण बन गये थे। फिर ये जलकण भी स्वच्छन्द [हो उठे, जैसे फिर भिन्न हो कर सीकरपुंज में परिणत हो गये हों, और बादलों की तरह विचरने लगे हों। फिर और नीचे ये बादल भी धुएं में परिणत हो गये थे। यह सुन्दर दृश्य हम देर तक देखते रहे। हम घंटे दो घंटे के मेहमान ही तो थे। आंख, कान, नाक, त्वचा से हम इस सौंदर्य को पीते रहे और बहुमुखी कल्पना द्वारा इस आनन्द को शतगुणित करते रहे। हमारे साथ दो-तीन कन्याएं भी थीं। रात को उनके लिए हमने एक अलग नौका मंगाई थी। दोनों ओर की दो नौकाओं में हम लोग बैठ गये, बीच की नौका में कन्याएं थीं। ऊपर चन्द्रमा की मुस्कान, नीचे शरावती की

जलधारा पर इन कन्याओं का श्रुति मधुर संगीत ! नारियल और सुपारी के वृक्षपुंज अपना ऊंचा सिर समीप ला-लाकर मानों इन कन्याओं के गान की दाद देने लगे। चन्द्रमा अस्त हो गया, तो अंधकार के साम्राज्य में आस-पास की पहाड़ियां भी विलीन हो गईं। न जाने हम कब निद्रादेवी की गोद में सो गये। सवेरे कन्याओं ने उठते ही अपनी नौका से पुकार कर हमें जगाया! हमने देखा कि उनके मुख पर वह प्रसन्नता नहीं थी, जो जोग का दृश्य देखते समय प्रतिबिम्बित हो उठी थी—उस समय वे एक-दूसरे की आंखों में देख-देखकर अपना विस्मय बढ़ा रही थीं, और उनका वह विस्मय देख कर हमें ऐसा लगा, मानों हमीं इस काव्यमय सृष्टि के जनक हों!'

❀ ❀ ❀

कलकत्ता में काका कालेलकर से भेंट होने के कोई डेढ़ वर्ष बाद मुझे जोग-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। काका का यात्रा-वर्णन मेरी आंखों के सम्मुख एकदम सजीव हो ऊठा।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, मैं मैसूर-राज्य में घूम-घूम कर जोग के सम्बन्ध में लोक गीत ढूंढने लगा। इतने बड़े जल-प्रपात का नाम मैसूर के किसी लोक-गीत में न आया हो, यह तो मैं मान ही नहीं सकता था। पर जब बहुत यत्न करने पर भी मैं ऐसा कोई गीत न सुन सका, तो दिल पर चोट लगी। मैं बहुत सटपटाया। इधर से हताश हो मैंने चाहा कि कोई लोकोक्ति ही मिल जाय, जिसमें जनता की सामूहिक प्रतिभा ने इस विख्यात जल-प्रपात को अभिनन्दित किया हो; परन्तु ऐसी कोई लोकोक्ति भी तो मेरे हाथ न लगी। शत-शत पहेलियों पर सिर पटका, पर वहां भी इस जल-प्रपात की कोई चर्चा न मिली। चलो किसी लोक-कथा में ही जोग की सुन्दरता का थोड़ा बहुत बखान मिल जाय—यह सोच कर मैंने मैसूर की लोकवार्त्ता के

इस मोहल्ले में भी लाख पूछ-ताछ की, पर सब व्यर्थ। लोक-वार्त्ता को जोग से ऐसी क्या नाराजगी थी, यह बात मैं यत्न करने पर भी न समझ सका। एक-दम उपेक्षा—और वह भी इतने बड़े जल-प्रपात की! यह तो वस्तुतः एक मूक अभिशाप ही था!

मेरे साथी ने ताली बजा कर जाने किस-किस अभिनय-मुद्रा से जन्म-भूमि की सुन्दरता के इस प्रतीक का अभिनन्दन किया।

मैंने कहा, 'मैं दोषी हूँ।'

'दोषी ?' मेरे साथी ने हैरान हो कर पूछा।

मैंने फिर कहा, 'मेरा यही दोष है कि मैं यहां इतनी देर बाद क्यों आया।'

'यह तो कोई दोष नहीं,' मेरे साथी ने मानों मेरी वकालत करते हुए कहा।

मैसूर-राज्य द्वारा स्थापित अतिथिशाला की 'विजिटर्स बुक' में मेरे साथी ने ये शब्द लिखे, 'ओ जोग के जल-प्रपात, तू इतना सुन्दर है! तू संसार का सबसे बड़ा जल-प्रपात है।'

मैंने उसके कथन की सचाई को ललकारा, तो उसने कुछ-कुछ बिगड़ कर कहा, 'देखते नहीं, विदेशियों तक ने विजिटर्स-बुक में जोग की प्रशंसा में क्या क्या लिख रखा है? क्या हम विदेशियों से भी गये-गुजरे हैं। कि जन्मभूमि की सुन्दरता देख कर गर्व न करें?'

एक यात्री ने लिखा था, 'आज मैंने यह जल-प्रपात देखा। जी में आया कि इसे उठा कर अपने देश ले जाऊं।'

एक दूसरे यात्री ने लिख रखा था, 'प्रकृति-माता का सब से बड़ा सौंदर्य-स्थल!'

मैंने जल्दी जल्दी इस 'विजिटर्स बुक' के पन्ने उलटने शुरू

कर दिये। मैंने जगह-जगह विभिन्न यात्रियों की ये सम्मतियां देखीं—

'यह जल-प्रपात भगवन् की सब से बड़ी कविता है।'

'प्रकृति के चित्रपट पर स्वयं भगवान् ने अपने हाथ से अंकित किया है यह चित्र !'

'जल-प्रपात से मैंने एक सर्वोत्कृष्ट गान की स्वर-लिपि सीखी !'

मैं क्या लिखूं ? यह प्रश्न मेरी कल्पना के तार हिलाने लगा। बहुत सोच सोच कर मैंने लिखा—

'ओ जोग के जल-प्रपात, जो कोई तुझे गेरसप्पन फाल्स के नाम से पुकारता है, भूल करता है। जोग कितना प्यारा नाम है। काका कालेलकर तुझे दो बार देख गये। मैं केवल एक बार तुझे देख पाया। क्या तू मुझे दोबारा नहीं बुलायेगा, ओ जोग के जल-प्रपात ?'
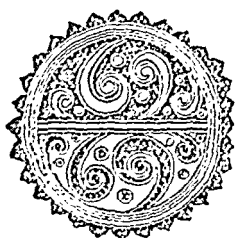
एक लेखक की श्रद्धांजलि

हिमालय के समान महान, सागर के समान गम्भीर : स्वतन्त्रता संग्राम के प्रतीक, विश्व शान्ति के नेता : सत्य और अहिंसा के ऋषि, मानवता के मन्त्रकार : अपनी भूलों को मुक्तकंठ से स्वीकार करने के लिये सदैव तत्पर, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के सम्मुख लोक कल्याण के समर्थक और साधक : ऐसे हमारे बापू की हत्या हमारे ही एक देशवासी के हाथों हुई, यह सोचकर मैं कुछ इस प्रकार लज्जित हो उठता हूं जैसे अब हमारे इतिहास के पृष्ठों से यह कलंक किसी के धोये नहीं धुल सकेगा। आज समस्त भारत रो रहा है, समस्त संसार रो रहा है, और मेरे अश्रु भी आज थामे नहीं थमते।

उस दिन मैं प्रार्थना सभा मैं जाते जाते रह गया, और इण्डिया काफी में काफी का कसैला घूंट भर रहा था जब अचानक किसी ने कहा 'गांधी जी गोली से मार डाले गये।' मुझे तनिक भी विश्वास न आया। किन्तु मन में विषाद की रेखाएं दौड़ गईं। थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति बाहर से आया और बोला : 'गांधी जी खत्म हो गये।' मैं अपने दो मित्रों सहित उठा और बिरला

हाउस की ओर चल पड़ा। रास्ते भर ऐसा लगा मानो यह सब मिथ्या हो और प्रर्थना शेष होने से पहले पहले हमारे तांगे का घोड़ा हमें बिरला हाउस के द्वार पर पहुँचा देगा और हम बापू से मिल सकेंगे।

किसी ने सड़क से कहा—'मृत्यु का समाचार कभी मिथ्या नहीं होता।' बिरला हाउस के द्वार पर भीड़ में खड़ी हुई एक शरणार्थी स्त्री कह रही थी—'मैं भी गांधी को कोस लेती थी, कभी कभी उसे बुरा भला भी कह लेती थी, पर मैं तो मां हूं। मां की गाली बेटे को कैसे लग सकती है। हत्यारे, तेरा क्या बिगाड़ा था गांधी ने।'

किस प्रकार मैं उस कमरे के भीतर पहुंचा जहां मृत्यु के पश्चात भी बापू के मुख पर शान्त दृढ़ता देखने को मिली, इस की गाथा छेड़ने की आवश्यकता नहीं। सभी गुमसुम बैठे थे। किसी से कुछ पूछनेकी हिम्मत न हुई। कुछ लोग सिसकियां भरते भरते रुमाल से आंखें पोंछ रहे थे। आभा और मनु, जिनके कन्धों पर स्नेहशील हाथ रख कर बापू प्रार्थना सभा में आया करते थे, दोनों रो रही थीं। जैसे उन्हें विश्वास हो कि उन के अश्रु देख कर बापू निद्रा से जग जायंगे। परन्तु सभी यह जानते थे कि इस 'चिर निद्रा' से अब बापू की आंखें नहीं खुलेंगी। मेरी आंखें बराबर बापू के शान्त और स्थिर चेहरे पर टिकी हुई थीं। एक बार ऐसा लगा कि कहीं बापू मजाक तो नहीं कर रहे। उनके चेहरे पर मधुर प्रकाश था। कुछ लोग बैठे थे, कुछ खड़े थे। इनमें नेता भी थे, बापू के स्नेही और निकटवर्ती भी, और बापू के भक्त भी। इनमें स्त्रियां भी थीं। सभी की आंखें बापू को फिर से जगता देखने के लिए उत्सुक थीं।

कमरे के बाहर भी लोग जमा थे और बापू के अन्तिम

दर्शन के लिए उत्सुक थे। इन में ऐसे लोग भी थे जो दरवाज़ों के शीशे तोड़ डालने की धमकी दे रहे थे। स्वयंसेवक उन्हें परे रहने और शान्ति रखने के लिए कह रहे थे। बाहर का शोर सुन कर अन्दर बैठे लोग शायद पूछना चाहते थे कि यह कैसा शोर है। आखिर यह प्रबन्ध किया गया कि किसी तरह बाहर जमा हुए लोगों को बापू के दर्शन हो सकें।

वहां बैठे बैठे एक ने कहा, 'आज शुक्रवार है। जिस दिन ईसा को सूली पर लटकाया गया था उस दिन भी शुक्रवार था।

मैंने भी पहले कई बार यह अनुभव किया था कि बापू किसी ईसा से कम नहीं। परन्तु उस समय मैं कुछ देर चुप बैठा रहा।

उस सज्जन ने फिर कहा, 'मैं तो समझता हूं कि जिस दिन बुद्ध की मृत्यु हुई होगी उस दिन भी शुक्रवार ही होगा।'

'मेरा इतिहास का ज्ञान कुछ कम है', मैंने कहा, 'यद्यपि मैं यह मानता हूं कि आगे चल कर इतिहास लेखक बुद्ध और गांधी को एक ही श्रेणी के जन-नेता स्वीकार करेगा।

वहां बैठे बैठे मुझे वह दिन याद आया जब कि मैंने गुरुकुल कांगड़ी की रजत-जयन्ती के अवसर पर पहले पहल बापू के दर्शन किये थे। फिर मुझे लाहौर के उस प्रोफेसर का ध्यान आया जिसने मुझे अच्छी अंगरेजी सीखने की दृष्टि से नियम पूर्वक अंगरेजी 'यंग इण्डिया' पढ़ने की ताकीद की थी। फिर अजमेर के उस मित्र का चेहरा मेरी आंखों के आगे घूम गया जिसने मुझे बापू की 'आत्मकथा' पढ़ने को दी थी और जिसने मेरे जीवन के दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। लाहौर कांग्रेस के अवसर पर बापू के दोबारा दर्शन करने की घटना भी एक दम उभर कर सामने आ गई। डण्डी यात्रामें सम्मिलित होने का मैंने इरादा किया था, परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सका

था। १९३४ में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ कलकत्ता में बापू के तीसरी बार दर्शन हुए। १९३५ में जब मैं सीमा-प्रान्त के लोकगीत संग्रह कर रहा था, बापू के साथ मेरा पत्र व्यवहार हुआ। और बापू ने लिखा, 'जो कुछ भी लिखो मुझे भेजते रहो।' फैजपुर कांग्रेस के अवसर पर मैं बापू से कितनी ही बार मिला, जब कि उन्होंने हंसी हंसी में पंजाबी सीखने की इच्छा प्रकट की। उनकी ओर से वर्धा चलने का निमन्त्रण भी मिला। परन्तु मैं बम्बई जा रहा था, और इसलिए बापू के साथ वर्धा न जा सका। आज उस दिन की बात सोचता हूं तो पछता कर रह जाता हूँ। फिर एक बार रामपुर के रेलवे स्टेशन पर सपरिवार बापू से भेंट हुई। बापू ने हंस कर कहा था, 'अब मालूम हुआ कि तुम किस प्रकार लम्बे चक्कर लगाते हो, तुम तो अपना घर अपने साथ उठाए फिरते हो।' मैंने कहा था, 'बापू, मैं एक खाना बदोश ही तो हूं।' मेरी बिटिया के हाथ से कुछ केले स्वीकार करते हुए बापू ने हंसी कर कहा था, 'बच्चों की चीज़ मैं कभी मुफ्त नहीं लेता।' और इतना कह कर उन्होंने उसे फूलों के कितने ही हार दे डाले थे जिनकी उसे अब तक याद है।

पिछले दो वर्षों में अनेक बार बापू के दर्शन हुए। दीवाली के दिन जब कि पहिली बार दिल्ली के ब्राडकास्टिंग हाउस में अपना भाषण ब्राडकास्ट करने आये, मुझे उनके समीप बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ३० दिसम्बर १९४७ की दोपहर भी मुझे याद है जब मैं उन से बिरला हाउस में मिला और उन्होंने मेरी पुस्तक 'धरती गाती है' की प्रस्तावना लिखने की प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। उस दिन मेरे निजी जीवन तथा इस की रूप रेखा के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक बातें पूछीं। यह उन की आत्मीयता का प्रमाण था। जिस दिन उन्होंने अपना अन्तिम उपवास खोला, उस दिन भी मुझे उन्हें बधाई देने का

सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हत्या की दुर्घटना से पहले दिन मैं प्रार्थना सभा में सम्मिलित हुआ था, इसके पश्चात् उनके साथ बातें करते-करते मैं उनके कमरे के भीतर तक गया। मैंने कहा, 'बापू, सुना है आप वर्धा जा रहे हैं।'

वे हंस कर बोले, 'तुमने भी अखबार में पढ़ा, मैंने भी अखबार में पढ़ा, पर जो गांधी वर्धा जा रहा है उसे मालूम नहीं।'

उनकी अन्तिम प्रार्थना भाषण के अन्तिम शब्द मेरे कानों में गूंज रहे हैं। उन्होंने कहा था कि उनका हिमालय दिल्ली में है और यदि वे सचमुच कभी हिमालय गये भी तो सब को अपने साथ लेकर जायंगे। उनकी अरथी के जलूस में लाखों लोगों की भीड़ देख कर मैंने सोचा, 'हम सब बापू के साथ हिमालय जा रहे हैं।

एक लेखक के रूप में मैंने बापू से बहुत कुछ प्राप्त किया। जनता के प्रति और विशेष रूप से हरिजनों के प्रति उन्हीं के सहयोग से मेरे हृदय में असीम आर्द्रता उत्पन्न हुई। जब हृदय भावों से उमड़ रहा हो तो फिर भाषा स्वयं प्रवाहित हो उठती है, यह बात मैंने सबसे अधिक बापू ही से सीखी। उनकी लेखनी शैली मुझे सदैव प्रिय रही है। इस शैली की सरलता और स्वच्छता ही इसकी सब से बड़ी सुन्दरता बन कर मेरे सम्मुख आई। वे कुछ ऐसे लिखते थे जैसे किसी से बातें कर रहे हों। सरल शब्द उनके हाथों में आकर नये प्राण से सजीव हो उठते थे। उनकी विचार धारा में शत-शत शताब्दियों के भारतीय चिन्तन की परम्परा का इतिहास निहित है। इसी लिए आज जब बापू का भौतिक शरीर हमारे बीच से उठ गया और चारों ओर अन्धकार है, मेरे सम्मुख एक चित्र उभरने लगता है—मानवता की वेदना सत्य और अहिंसा के सम्मुख नतमस्तक है और बापू उसे आशीर्वाद दे रहे हैं।

स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ

जैसे साहित्य का मूल तत्व है भाषा, वैसे ही स्वतन्त्रता का मूल तत्व है जनतन्त्र। अर्थात् जिस प्रकार जीवन के गहरे सम्पर्क में आकर भाषा साहित्य के लिए कच्चे माल का काम देती है, उसी प्रकार यह कहना भी अनुचित न होगा कि जनतन्त्र के विकास द्वारा ही स्वतन्त्रता का जन्म होना संभव है। यों लिखने को तो हर कोई कुछ न कुछ लिख सकता है, पर जैसे घटनाओं के पीछे छिपे हुए सामाजिक अभिप्राय को स्पष्टता और पूर्णता के साथ उद्घृत करने के लिए बड़ी होशियारी से चुने हुए शब्दों वाली भाषा की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही जनतन्त्र की स्वस्थ और प्रगतिशील शक्ति द्वारा ही वास्तविक स्वतन्त्रता की परम्परायें स्थिर हो सकती हैं। साहित्यिक भाषा एक दिन में तैयार नहीं हो जाती, क्योंकि भले ही किसी साहित्यिक भाषा का उद्गम जनता की बोलचाल की भाषा में होता हो जैसा कि रूसी भाषा की चर्चा करते हुए मैक्सिम गोर्की ने एक स्थान पर लिखा है, पर वह अपने मूल स्रोत से बहुत भिन्न होती है,

क्योंकि वस्तुओं को शब्दों द्वारा प्रस्तुत करने की क्रिया में उसमें से सभी क्षणिक अनगढ़ और विकृत ध्वनियों वाले तत्त्व निकल जाते हैं, जो बोलचाल की भाषा में पाए जाते हैं, पर जो कई कारणों से भाषा की मूल आत्मा के साथ मेल नहीं खाते। इसी प्रकार जनतन्त्र की उसी अवस्था में जब स्वार्थपूर्ण आपाधापी के लिए कोई स्थान न रह जाय, स्वतन्त्रता का मीठा फल आनन्दप्रद हो सकता है।

१५ अगस्त के बाद देश की नाव कई बार डगमगाई, पर हमारे नाविकों ने इसे बचा लिया। इसका बहुत-सा श्रेय राष्ट्र-पिता को ही है, जिसके बलिदान द्वारा एक प्रकार से देश का हृदय-परिवर्तन हो गया। हमारी सब से बड़ी आवश्यकता है जनतन्त्र की शक्ति को ठीक-ठीक समझना। कहते हैं जब पहले पहल रूस में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई एक मोटी रूसी स्त्री अपनी नवोपार्जित स्वतन्त्रता की अभि-नन्दन करने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग की सड़क के बीच में चलने लगी। सब लोगों ने उसे पूछा कि वह सड़क के बीच में क्यों चल रही है, वह बोली, 'अब हम स्वतन्त्र हैं, अब हमें कोई बन्धन नहीं, कोई रुकावट नहीं, अब हम सड़क के बीचो-बीच चलेंगे।' इस देश में भी ऐसे लोगों की कुछ कमी नहीं जो स्वतन्त्रता का सही अर्थ समझते नहीं हैं।

क्रांति और विद्रोह अच्छी चीज है, पर अच्छी, बुरी मर्यादा ध्यान रखे बिना केवल नारे लगाने से तो स्वच्छन्दता का ही परिचय मिलता है। जनतन्त्र की अपनी मर्यादा अवश्य स्थिर रहनी चाहिए। स्वतन्त्रता की वर्षगांठ के राष्ट्रीय पर्व पर हम एक मत होकर जनतन्त्र का समर्थन करने का निर्णय कर लें तो देश प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

संस्कृति पहली शर्त है, और यह वस्तुतः किसी एक मर्यादा

या व्यवस्था के बिना संभव नहीं। श्रीवासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय संस्कृति के स्वर्णयुग का बखान करते हुए लिखा है मध्य एशिया की खुदाई में जो पुरातत्त्व की सामग्री मिली है, कोरिया, मंगोलिया चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान में जो साहित्य और कला का भंडार मिला है उसे देख कर सच-मुच ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृति का फैलता हुआ यश पर्वतों पर चढ़ कर उस पार निकल गया, हमारी भौगोलिक सीमा के परकोटे उस यश को रोक न सके। भारतीय आचार्यों के झुंड और चीन-यात्रियों के दल उत्तरी पर्वतों को चीटियों की भांति सुख से लांघ गए। सौराष्ट्र, अपरान्त, चोल मंडल, कलिंग, ताम्रलिप्ति के समुद्र तटों की पखारने वाली जल मालायें भारतीय नाविकों और महान नाविकपोताध्यक्षों को दिन रात उदधि के उस पार पहुंचने का निमन्त्रण दे रही थीं। उस संगीत में एक प्रबल आकर्षण था।......सुमात्रा [श्री विजय] के शैलेन्द्रवंशी सम्राट श्री बालपुत्र देव का एक ताम्रपत्र नालन्दा की खुदाई में मिला है। उसमें अन्य दोनों के अतिरिक्त 'चातुर्दिश आर्य भिक्षु संघ' के दिए हुए कुछ दानों का उल्लेख है। यह भिक्षु संघ उन विद्यार्थियों का था, जो विदेशों में शिक्षा प्राप्ति के लिए नालन्दा में एकत्र होते थे। चारों दिशाओं से आने के कारण वे 'चातुर्दिशा' संघ के छात्र कहे जाते थे। जिसका अर्थ आज की भाषा में वही है जो अन्तर राष्ट्रीय छात्रावास का होगा। नालन्दा के अपने छात्रों का संगठन 'श्री नालन्दा महाविहारीय आर्य संघ' कहलाता था। जिसकी अनेक मुद्रायें वहां मिली हैं। इस प्रकार अपने चातुर्दिश नेत्रोंको हमें पुनः उद्घाटित करना है।

यह कहा जा सकता है कि विभिन्न संघों के रूप में विभिन्न देशी रियासतों का एकीकरण स्वतन्त्रता के पिछले

कई वर्षों में हमारी सफलता का सबसे बड़ा प्रतीक है। अनेक छोटी छोटी रियासतों का प्रान्तीय सरकारों द्वारा विलीनीकरण भी इस सफलता से सम्बद्ध है। काश्मीर की समस्या अभी हमारे सम्मुख है जिसे हमने बहुत हद तक संभाल लिया है। हैदराबाद की समस्या उससे कहीं विकट नज़र आती है। हमें आशा करनी चाहिए कि भारत की राष्ट्रीय सरकार बहुत शीघ्र अपने प्रयत्नों में सफल होगी। शरणार्थियों की समस्या भी कुछ कम कठिन नहीं। वे लोग जिनके घराने उजड़ गये हैं, जो सब कुछ गंवा कर उधर से इधर आये, वे फिर से बसना चाहते हैं। उनकी बेकारी देश के शुभचिन्तकों को बुरी तरह खटक रही है। उन्हें काम पर लगाया जा रहा है। उन में जो अधिक परिश्रमी थे वे तो कभी के किसी न किसी धंधे में जुट चुके हैं। इस समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई है घरों का अभाव। आखिर कब तक लोग अस्थाई शरणार्थी शिविरों में रह सकते हैं। सच पूछो तो आज देश में स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ मनाने के लिए उत्साह की कमी नजर आती है। जैसे हमारी सब खुशी शरणार्थियों के अपार दुःख के नीचे दब कर रह गई हो।

लाल किले पर राष्ट्रीय झँडा फहरा रहा है। पिछले एक वर्ष से यह झँडा इसी तरह फहरा रहा है। राजधानी को इस पर गर्व है। सोचता हूँ इस झँडे ने कितने साहित्यकारों को प्रेरणा दी है। सड़क पर चलते चलते रुक जाता हूं और झंडे की तरफ एकटक देखने लगता हूँ। यहां खड़े खड़े किसी न किसी शरणार्थी से भेंट हो जाती है। उसकी बोलचाल की भाषा के अनेक शब्द उसके ओंठों पर आते हैं। यह देखकर चकित रह जाता हूं कि ये लोग ऐसे पुराने और बेहद घिसे हुए शब्दों का प्रयोग बहुत कम करते हैं जिनका अब कोई

अर्थ ही न रह गया हो। उनकी कहानी सुनते-सुनते मैं प्रायः सब से सरल, सब से अधिक अर्थवादी और अधिकाधिक उपयुक्त शब्द चुनने का यत्न करता हूं। बीच-बीच में मेरी आंखें राष्ट्रीय झँडे की ओर उठ जाती हैं। सोचता हूं कि इन शरणार्थियों की कहानियों का कोई अंत नहीं। दुःख में तपकर इनकी भाषा भी कुन्दन बन गई है। अब कोई इन पर गाथा लिखने बैठे तो एक दूसरा महाभारत तैयार हो जाता। जैसे इनकी गाथा मेरे दिमाग के भीतर रम गई हो, जैसे वह भीतर-ही-भीतर मुझे कुरेद रही हो कि कभी तो उसे भी चित्रित करूँ। सामाजिक परिस्थितियों की अनेक गाथायें मुझे छू जाती हैं। शरणार्थी की गाथा की ओर मेरा यह आकर्षण कुछ इतना बढ़ गया है कि जब तक इनकी दिल की भड़ास न निकाल लूं, शायद और कुछ लिख ही नहीं सकता। शरणार्थी को क्या चाहिए? किसी घर का एक कोना, और रोटी का एक टुकड़ा। अंधेरी आती है तो सब से पहले शरणार्थी का खीमा हवा में उड़ जाता है। किसी नदी में बाढ़ आती है तो सारा-का-सारा शरणार्थी शिविर खतरे में पड़ जाता है। कहीं आग लगती है तो शरणार्थी शिविर में शिविरों की कतारें जल कर राख हो जाती हैं—जैसे शरणार्थी मुझ से पूछ रहा हो कि इतनी मुसीबत उसी का पीछा क्यों कर रही है। उस समय मेरा सारा ध्यान शरणा पर केन्द्रित हो जाता है। शरणार्थी-शिविरों में देखे हुए अनेक दृश्य मेरी आंखों में फिर जाते हैं। अपने सब के सब अन्तर्विरोध ये लोग पीछे छोड़ आये हों, यह बात नहीं। वे बराबर अन्तर्विरोधों और सहानुभूतियों में घिरे हुए नजर आने लगते हैं। वे व्यक्तिगत विशेषतायें रखते हैं, जो बदलते हुए जीवन में भी स्थिर नजर आती हैं। पर सोचता हूँ कि ये लोग कब

तक शरणार्थी-शिविरों में पड़े रहेंगे। इधर-से-उधर की ओर चलते समय न जाने क्या-क्या आशायें लेकर चले हों। उस समय जब फिर से राष्ट्रीय झँडे की ओर आंखें उठाता हूं तो यों लगता है जैसे वह भी कुछ उदास हो उठा हो। शरणार्थी दया के भूखे नहीं। मैं कहना चाहता हूं वे केवल यही चाहते हैं कि राष्ट्रीय सरकार उनकी अनिश्चित् स्थिति को एक निश्चित् रूप देने में उन्हें सहयोग दे। वस्तुतः यह उनका अधिकार है जो उन्हें अवश्य मिलना चाहिये। स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ के अवसर पर शरणार्थियों की गाथा का क्षितिज दूर तक फैल जाता है। सोचता हूँ कि कितने साहित्यकार हैं, जो इस क्षितिज को देखने के लिए आंख रखते हैं।

'ये लोग कहां से आ गये'···'इन्होंने दिल्ली का रूप बिगाड़ डाला।'···'पटरियों पर दुकानें लगा रखी हैं, सरकार इन्हें उठाती क्यों नहीं। इन्हें न सफाई की परवाह है न फुटपाथ से गुजरने वालों के आराम की।' ऐसी ऐसी बातें कहने वालों की कमी नहीं। पर कोई इन लोगों की गाथा की पृष्ठभूमि में झांकने का यत्न नहीं करता।

आसाम के एक लोकगीत में वहां के 'बिहू' नामक सामाजिक पर्व की एक झांकी प्रस्तुत करते हुए एक ऐसे व्यक्ति का चित्र अंकित किया गया है जिसके पास नये वस्त्र नहीं हैं, जो वह इस अवसर पर सामूहिक-नृत्य में सम्मिलित होते समय पहन सके। वह कहता है—'बिहू पक्षी की रट लगा रहा है। पर मेरे पास बिहू के लायक वस्त्र नहीं। मित्र पूछेंगे कि तुम क्यों नहीं चलते, तो कह दूंगा कि मेरी मां मर गई।' कुछ ऐसी ही अवस्था इन शरणार्थियों की है। वे स्वतन्त्रता की वर्षगांठ के राष्ट्रीय पर्व में कैसे सम्मिलित हों!

फिर भी देखता हूँ कि शरणार्थियों के चेहरों पर भी आज

कुछ-कुछ चमक-सी आ रही है। राष्ट्रीय झंडे की ओर देखते हुए जैसे उनके मन अपार आशीर्वाद से भर जाते हों।

देश ऊपर उठता चला जाय, यही आज साहित्यकार का प्रयत्न होना चाहिए। देश में दबी हुई बौद्धिक शक्ति को फिर से क्रियाशील बनाने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना—यही साहित्यकार का उत्तरदायित्व है, जैसा कि मैक्सिम गोर्की ने रूस की चर्चा करते हुए कहा था—'हमारे अधिकांश किसान पहले सिर्फ छः इंच की गहराई तक जमीन जोतते थे, अब हम इतनी गहराई तक हल चला रहे हैं कि उसके खजाने की नयी-नयी सम्पदायें हमारे सामने आ रही हैं। हम सक्रिय रूप से संघटित मानव-बुद्धि की प्रकृति को यान्त्रिक नियमबद्धता के विरुद्ध संघर्ष में गुंथा हुआ देख रहे है। और देख रहे हैं कि यह संघर्ष उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता जा रहा है और इसमें मनुष्यों की बुद्धि की विजय हो रही है।'

मातृभाषा नहीं छोड़ेंगे

नई दिल्ली के इण्डिया कॉफ़ी हाउस में उस रोज़ शोर का यह हाल था कि पास बैठे मित्र की आवाज़ भी कभी-कभी इस शोर में विलुप्त होती नज़र आती। ऐसे में लम्बी बातचीत और भी कठिन हो जाती है। उस समय मातृभाषा और राष्ट्रभाषा पर वादविवाद चल पड़ा था। पहले तो जी में आया कि कुछ फैसला होने के पश्चात् ही कॉफ़ी को गले में उंडेलें। परन्तु जब काफी आ गई तो जोशी कॉफ़ी पर टूट पड़ा। वाह रे जोशी—मैंने सोचा, तुझे बस कॉफ़ी चाहिये, भले ही कोई तुझ से तेरी मातृभाषा भी क्यों न छीन ले।

'भई, ऐसा क्यों कह रहे हो? कॉफ़ी हाउस में भला मातृभाषा क्या काम देगी?' जोशी कह उठा, 'यहाँ तो अनेक भाषाओं के स्वर गले में अटक जाते हैं। राष्ट्रभाषा की बात तो मैं जानता नहीं, अभी तो अंगरेज़ी से काम चलाने पर मजबूर हैं हम। काफ़ी लाने वाला तामिल भाषी युवक हिन्दी में हमारी बात भले ही न समझे, अंगरेज़ी में वह जरूर कुछ-न-कुछ समझ जाता है।'

मैंने कहा—'यही तो अपमान की बात है। किसी ने कहा है न—'आती है उर्दू जुबां आते-आते' अर्थात् कोई भी भाषा यों ही नहीं सीखी जा सकती। प्रचुर अभ्यास करना होता है। और इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि एक बार सीखी हुई भाषा का त्याग भी कठिन हो जाता है, बहुत धीरे-धीरे ही छुटकारा पाया जा सकता है।'

काफ़ी ठण्डी हो रही थी। मैंने कहा, 'प्रत्येक बोली और भाषा को जीने का अधिकार है। सच-सच पूछो तो मुझे राजथानी, भोजपुरी और मैथिली का भविष्य उज्ज्वल नजर आता है। कदाचित् काश्मीरी के भाग्य भी जागें, क्योंकि इसे महजूर जैसा लोक-कवि प्राप्त हो चुका है—ऐसा कवि जिसकी कुछ कविताओं के अनुवाद पढ़ कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने प्रशंसा की थी। भोजपुरी राहुल जी की मातृभाषा है और उनकी कुछ रचनाएं, भोजपुरी का गौरव बढ़ा चुकी हैं। मैथिली जहां अपने अतीत पर गर्व करते हुए विद्यापति का नाम पेश कर सकती है वहां वह कुछ नये कवियों को भी प्रतिभा का वरदान दे चुकी है।'

कॉफ़ी हाउस के शोर में मेरी आवाज बार-बार दबने लगती। जरा सजग होकर मैंने फिर कहा, 'बम्बई के जन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित धरती के गीत में हिन्दी की कितनी ही बोलियों में नये कवियों के जन-गीत संग्रह किये गये हैं। इनमें कुछ गीत इतने सुन्दर और प्राणवान हैं कि उन जनपदों की बोलियों की शक्ति का कायल होना पड़ता है जिनमें इनका सृजन हुआ है। इसमें समय-समय पर प्रकाशित किसी-न-किसी जनपद की भाषा में लिखे गये गीत देख कर भला किस भले आदमी का मन झुंझलायेगा? 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित राजस्थानी में लिखी गई कविताओं के प्रति मेरी आस्था बढ़ गई है। सच-

मुच कविता तो ऐसी चीज है कि कवि अपनी मातृभाषा ही लिख सकता है; और फिर यह भी कहा जा सकता है कि बहुत लम्बे प्रयास के पश्चात कवि किसी दूसरी भाषा में भी उत्तम कोटि की कविता का निर्माण कर सकता है। इकबाल के सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा है कि यदि उन्होंने उर्दू और फारसी को अपना माध्यम चुनने की बजाय अपनी मातृभाषा पंजाबी को अपनाया होता तो उनकी कविता इससे भी कहीं अधिक उच्चकोटि की सिद्ध हो सकती थी। यही बात पन्त के सम्बन्ध भी कही जा साकती है।'

'यदि पन्त ने कुमाऊँनी में कविता की होती तो कैसी रहती?' जोशी ने न जाने क्या सोच कर कहा, 'यह आवश्यक नहीं है कि कुमाऊंनी में पन्त की कविता सचमुच उनकी हिन्दी कविता के मुकाबले में उत्तम ही कही जा सकती है। कुमाऊंनी के मुकाबले में हिन्दी बहुत विकसित भाषा है। अतः जहां हिन्दी के विकास में पन्तजी ने स्वयं हाथ बटाया वहां यह भी कह सकते हैं कि उन्हें हिन्दी के विकास और इसकी प्रगतिशील परम्परा से स्वयं भी बहुत लाभ हुआ।'

हम इस परिणाम पर पहुँचे कि कोई किसी को किसी भाषा में लिखने के लिए मजबूर नहीं कर सकता,' न कोई भाषा ठोक-पीट कर विकसित भाषा के मुकाबले पर खड़ी की जा सकती है।

'हिन्दी को क्या डर है यदि कुमाऊँनी का कोई कवि अपनी मातृभाषा में कविता करे?' मैंने जोशी का मन टटोलने के लिये कहा।

'मैं कुमाऊँ से बाहर रहा, और धीरे-धीरे एक प्रकार से कुमाऊँनी को भूलता चला गया। इधर मैंने इसे दोबारा सीखा है। फिर भी मुझे हिन्दी ही अच्छी लगती है'—जोशी रुक-

रुक कर कह रहा था, जैसे साथ-साथ सोचता जा रहा हो कि कहीं ऐसा कहने से कुमाऊँनी का तिरस्कार तो नहीं हुआ।

जोशी झट कह उठा, 'इसका कारण यही है कि कुमाऊँनी अभी परिमार्जित भाषा नहीं बन पाई, और न ही कोई प्रतिभाशाली लेखक ही सामने आया जो यह शपथ ले कि वह कुमाऊँनी ही लिखेगा। और जिसके हाथों में कुमाऊंनी के शब्द नया रूप पा सकें, और प्रयोग के अनेक धरातलों पर नये-नये अर्थों का बोध करा सकें। यह प्रत्यक्ष है कि यदि आगे चल कर कुमाऊंनी का उद्धार देखने में आयेगा तो हम इसे अवश्य हिन्दी ही की भांति संस्कृत शब्दों से विभूषित देखेंगे।'

हिन्दी तो राष्ट्रभाषा होने जा रही है' जोशी ने जोर देकर कहा, 'कुमाऊंनी का विकास कभी सम्भव हो सकेगा तो इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का कुछ अहित नहीं होगा। कुमाऊंनी संस्कृति तो पहले ही कवि पन्त की कविता द्वारा हिन्दी साहित्य की विभूति बन चुकी है। यदि हिन्दी को पन्त जैसा कुमाऊंनी कवि न भी मिला होता, तो भी कुमाऊंनी संस्कृति की कोख से जन्म लेने वाले साहित्य से भी तो राष्ट्र-भाषा का गौरव बढ़ा होता। राष्ट्र-भाषा को तो प्रत्येक प्रान्तीय भाषा और बोली के प्रति उदार रहना होगा।'

जोशी बोला 'परन्तु आप कल को मुझसे कहें कि कुमाऊंनी में कविता लिखना आरम्भ कर दो तो कदाचित मैं एक पंक्ति भी न रच सकूं।'

'सब भय मिथ्या है। हिन्दी को अपनी शक्ति में विश्वास होना चाहिए।' मैंने सोच-सोच कर कहा, 'यह भय कि कहीं कुछ बोलियां भाषाओं का रूप लेकर हिन्दी के मुकाबले पर न न आ जायं निरर्थक है। हिन्दी की बढ़ती हुई शक्ति को भला कौन रोक सकता है और यदि कोई पास-पड़ोस की बोली जनपद-

संस्कृति की अग्रदूत वन कर हिन्दी का भण्डार भरने के लिए विकास के मार्ग पर चल पड़े तो हिन्दी का हृदय तो गद्-गद् हो जाना चाहिये।'

उस समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्द मेरे मन में प्रतिध्वनित हो उठे—'आधुनिक भारत की संस्कृति एक शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। मेरे विचार में प्रान्तीय भाषाओं के पुनरुज्जीवन में राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ भी क्षति नहीं होगी।'

जोशी ने झुंझला कर कहा, 'तुम किस सोच में डूबे जा रहे हो। ये वहुत वड़ी-वड़ी वातें छोड़ो। यह हमारे-तुम्हारे सुलझाए सुलझने की नहीं हैं।'

'अरे नहीं जोशी,' मैंने मानों दो व्यक्तियों द्वारा किये गये किसी ठीक फैसले की महत्ता प्रकट करते हुए कहा, 'मेरा ख्याल है कि हम ठीक परिणाम पर पहुंच चुके हैं। हम मातृ-भाषा को नहीं छोड़ेंगे। इसी में राष्ट्रभाषा का हित होगा जिसका रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी समर्थन किया है।'

नीग्रो सैनिक से भेंट

उस नीग्रो सैनिक की बातें मुझे हू-ब-हू याद हैं। थी तो यह दो अपरिचित व्यक्तियों की पहली भेंट, पर सच पूछो तो यह दो जातियों का मिलन था, दो देशों का मिलन। युद्ध के दिन थे। किसी सैनिक से खुल कर बातें करते एक प्रकार की झिझक का महसूस होना स्वाभाविक था। पर मेरी इस झिझक को उस नीग्रो सैनिक ने पहले ही क्षणों में दूर कर दिया था। दिल्ली में कनाट प्लेस की बैंच पर सिगरेट के कश लगाते-लगाते उसने नीग्रो जाति का समस्त इतिहास मेरे सम्मुख खोल कर रख दिया।

वहीं बैंच पर बैठे-बैठे उसने मुझे एक नीग्रो गीत के मर्म-स्पर्शी बोल सुनाये थे—

'चाहो तो मुझे पूरब में दफ़ना दो,
चाहो तो मुझे पच्छिम में दफ़ना दो,
मैं उस तुरही की पुकार बराबर सुनता रहूँगा
सवेरे के वातावरण में।'

अनन्त दुःख में भी नीग्रो जाति किस प्रकार सुख की कल्पना

करती रही थी, यह गीत उसी की ओर संकेत कर रहा था। गाते-गाते उसकी आँखें चमक उठी थीं। जैसे उसे अपने पुरखाओं की याद हो आई हो, जिनकी पीठ पर गुलामी की प्रथा के युग में सदैव चमड़े का लपलपाता हंटर बरसने को तैयार रहता था। जैसे उसे अपने पुरखाओं पर गर्व हो, जिनके बलिदानों के कारण आज वह जीवित था और उसे एक स्वतन्त्र शहरी के अधिकार प्राप्त थे।

मैंने कहीं पढ़ रखा था कि पुराने नीग्रो गीत दुख-दर्द के प्रतीक हैं। क्योंकि जब उनका जन्म हुआ, तो नीग्रो जाति को वेदना-ही-वेदना पीनी पड़ती थी। वेदना की रेखाओं द्वारा ही नीग्रो गीतों की स्वरलिपि को निश्चित रूप मिला था।

बात करते-करते नीग्रो सैनिक जोर से खिल-खिला कर हँस पड़ता तो यों लगता कि वह अपनी जाति की बची-खुची वेदना पर परदा डाल रहा है। कई बार यों लगता कि उसके मन में कहीं कोई ऐसी गाँठ पड़ गई है जो हजार यत्न करने पर भी खुलती नहीं। मुझे एक नीग्रो लोकोक्ति की याद आने लगती—'गाँठ का कहना है कि संसार कभी आगे जाता है, कभी पीछे आता है।' ऐसी भी क्या गाँठ है जिसे मैं नहीं खोल सकता, मैं उससे कहना चाहता था।

'नये गीतों की भरमार है,' वह कह रहा था, 'पर पुराने गीतों का कोई मुक़ाबला नहीं।'

'और बातें छोड़ कर कोई पुराना नीग्रो गीत ही क्यों नहीं सुनाते,' मैंने कहा।

वह अस्पष्ट स्वरों में कुछ गुनगुनाने लगा, जैसे कंठ तक आये हुए किसी गीत को ओठों तक खींच लाने का यत्न कर रहा हो। मैं एक सुन्दर चित्र की प्रतीक्षा में सम्भल कर बैठ गया। मेघ-गम्भीर स्वरों वह गा उठा। इस गीत की रूप-रेखा कुछ इस

प्रकार थी—

'वह काली-कलूटी छोकरी सदैव मुर्झाई रहती है
नयी जूती लाओ, नयी जूती लाओ
उसके लिए मैं नयी जूती ले दूँगा, और नये मोज़े भी।
और स्लीपर भी ले दूँगा, हाँ स्लीपर भी।
जितनी काली होगी झड़-बेरी, उतना ही मीठा होगा रस!'

'शत-शत वर्षों के अत्याचारों के नीचे दबी हुई नीग्रो जाति बराबर गाती रही,' वह कह रहा था, 'यह काली-झड़बेरी का गीत शायद तुम भी कुछ-कुछ समझ गए होगे। इस देश में भी तो काली झड़बेरी होती होगी! काली-कलूटी नीग्रो कन्या का कृपाभाजन बनने के लिए गोरे युवकों में भी संघर्ष चलता है। गोरे लेखकों द्वारा लिखे गए अनेक नाटकों में इस कथानक को प्रस्तुत किया गया है।'

इस सवाल पर मैंने उसे अपनी जन्मभूमि-सम्बन्धी अनेक बातें बताईं। सोचता हूं वे सब बातें उसे भूल तो नहीं गई होंगी। आज भी अपने मित्रों में बैठ कर वह इस देश के सम्बन्ध में चर्चा करता होगा।

उससे बातें करते-करते मैंने यह बात बड़े स्पष्ट रूप में अनुभव की थी कि नीग्रो और अन्य जातियों की बौद्धिक शक्ति में कोई बहुत बड़ा स्वाभाविक अन्तर नहीं हो सकता।

'गणित में नीग्रो कमजोर है', वह कह उठा।

'गणित को जाने दो,' मैंने हँस कर उत्तर दिया, 'कला और साहित्य में तो वे किसी भी जाति से टक्कर ले सकते हैं।'

बहुत देर तक हँसी-मज़ाक चलता रहा। एक नीग्रो लोकोक्ति को लेकर हम खूब खुश हुए—'झूठा आदमी कहता है कि मेरा गवाह यूरोप में है।' एक और नीग्रो लोकोक्ति भी मुझे बहुत पसंद आई—'सिर और बोझ गरदन की मुसीबत हैं।' कानों

और आँखों की मिली-भुगत पर भी अच्छी फबती कसी गई थी—'जब कान नहीं सुनते तो आँखें देखती भी नहीं।'

मेरे नीग्रो मित्र ने यह बात विशेष जोर देकर कही कि अमेरिका में नीग्रो शब्द-बहुत आम हो गया है और इसे अमेरिका की समस्त नीग्रो जाति ने अपना लिया है। उसने यह भी बताया कि आज भी नीग्रो के प्रति घृणा दिखाते हुए 'निगर' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसे कोई भी भला नीग्रो पसन्द नहीं कर सकता। चौड़ी नाक और घुंघराले बाल, जितना काला रंग उतने ही सफेद दाँत—नीग्रो की यह विशेषताएँ मैं अपने मित्र में देख रहा था। पर इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं था कि वह किसी भी सभ्य जाति के व्यक्ति से पीछे था, या यह कि किसी को उसे 'निगर' कह कर पुकारने का अधिकार मिल सकता था। यह ठीक था कि छठवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक रोमन और अरब विजेताओं ने अमेरिका के अनेक प्रदेशों से लाखों व्यक्तियों को एशिया के बाजारों में ले जा कर गुलामों के रूप में बेच डाला था, और फिर सोलहवीं शती के पश्चात यूरोपीय साम्राज्यवादियों ने अफ्रीका के पूर्वी और पश्चिमी किनारों के प्रदर्शनों से नीग्रो जाति के करोड़ों नर-नारियों को पकड़ कर अमेरिका के शहरों में ले जा कर बेचने का धन्धा अपना लिया था। कहते हैं इस प्रकार दस करोड़ नीग्रो अपनी जन्मभूमि से अलग किये गये थे, यद्यपि उनमें से ४ करोड़ व्यक्ति ही अमेरिका पहुँच पाये थे, और बाकी ६ करोड़ नीग्रो बीमारी अथवा अत्याचारों के कारण रास्ते ही में चल बसे थे। किस प्रकार पूरे डेढ़ सौ वर्षों तक यूरोपीय साम्राज्यवादी उद्योगवाद के महल की नींव में करोड़ों नीग्रो नर-नारियों की हड्डियाँ डाली गईं, इस सम्बन्ध में मेरे मित्र ने भरपूर चर्चा की। उसने बताया कि नीग्रो सदैव इस असह्य हीनता का डट कर मुकाबला करते रहे। उसने

यह भी बताया कि किस प्रकार पहली जनवरी, १८३३ का वह शुभ दिन आया जब अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने समस्त अमेरिका से गुलामों की शर्मनाक प्रथा के अन्त की ज़ोरदार घोषणा की, किस प्रकार ९ अप्रैल, १८६५ को गुलामी के समर्थक जनरल ली ने जनरल ग्रण्ट को आत्मसमर्पण किया था।

गुलामी से मुक्त होने पर शुरू-शुरू में नीग्रो को अनेक कष्ट हुए। गुलामी से मुक्त हो कर भी सचमुच उसे वह स्वतन्त्रता नहीं मिली थी जिस पर उसे गर्व हो सकता। उस युग की एक नीग्रो कविता में इसी का चित्र खींचा गया है—

'जब मुझे स्वतन्त्रता मिली
मालिक से, खेत से, कारखाने से, गुलामी से
स्वतन्त्रता मिली, सुनहरी स्वतन्त्रता मिली
सुन्दर स्वतन्त्रता मिली
पर एक कठिन समस्या ही तो थी—
जाऊँ तो कहाँ जाऊँ ?
पास एक धेला तक नहीं,
कैसे स्वतन्त्र बनूँ ?
न बैठने को ठौर,
न पैर में जूता,
न खाने को कौर,
हाय, हतभागे !
क्या गुलामी ही है तेरा धर्म ?'

एक और स्थान पर नीग्रो कवि कह उठा, 'छोटी मक्खियाँ रस जुटाती हैं, बड़ी मक्खियाँ खाती हैं मधुर मधु !'

मेरे मित्र ने यह भी बताया कि अमेरिका के नीग्रो सभी ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके हैं। वे कैसे ईसाई हो गये, शायद इसकी उन्हें कुछ ख़बर नहीं। यह कहा जा सकता है कि वे फ़ुरसत

के क्षणों में नाच-गान में मस्त रहे और नाचते-गाते ही वे एक प्रकार की अचेतन अवस्था में ईसाई मिशनरियों के जाल में फंसते चले गये। और आज यह हाल है कि नीग्रो कवि ईसाई धर्म की आलोचना करने से भी संकोच नहीं करता—

'गोरे मारते हैं हंटर,
चलाते हैं बन्दूक,
धरती है केवल गोरों के लिए,
अभागे नीग्रो का स्थान है बादलों में,
नीग्रो धर्म पर चलता है।'
बाइबल का पाठ पढ़ता है, प्रार्थना करता है।'

एक और नीग्रो कविता में कवि बड़े जोरदार शब्दों में समस्त नीग्रो जाति को एक पंक्ति में खड़े होने का आदेश देता है—

'तुम भी वीर हो, नीग्रो!
तुम्हारी रगों में भी गरम लहू बहता है,
देखो वह गोरा आता है,
उसके हाथ में पिस्तौल है, छुरा है,
देखो डरो मत
नीग्रो के साथ नीग्रो खड़ा हो जाय,
कन्धे-से-कन्धा मिला कर
तुम भागो मत, नीग्रो!
इसी से तो प्रोत्साहित होते हैं ये अत्याचारी!'

इन कविताओं पर हम देर तक विचार करते रहे। एक नीग्रो कविता की यह टुकड़ी मुझे बेहद पसन्द आई—'डालर की नज़र में मैं कब का मौत के घाट उतर चुका हूँ!'

उत्तर और दक्षिण में नीग्रो की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एक बार अमेरिका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्लबक ने लिखा था—'यहाँ उत्तर में नीग्रो की सुरक्षा और उन्नति के काफी

साधन और अवसर हैं । कम-से-कम वह यहां लिंचिग (गोरों द्वारा ज़िन्दा जला दिया जाना या मार डाला जाना) से तो सुरक्षित हैं। यह सही है कि यहां भी वह शहर के अच्छे हिस्सों में मकान नहीं खरीद सकता, चाहे वह कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो और चाहे उसकी हैसियत कैसी ही क्यों न हो। बहुत से ऐसे होटल और रेस्तरां और सार्वजनिक स्थान हैं जहां उसका प्रवेश निषिद्ध है। पर सार्वजनिक स्कूल और सरकारी विश्व-विद्यालय उसके लिए खुले हुए हैं। वह सार्वजनिक मोटरों, ट्रामों और बसों में जिस जगह चाहे बैठ सकता है और किराया देकर वह रेल में चाहे जिस क्लास में यात्रा कर सकता है। पर आर्थिक-दृष्टि से वह पक्षपात का शिकार बताया जाता है। उसके मुकाबले में गोरों को नौकरी दी जाती है। हाँ, राजनीतिक क्षेत्र में उसे अपनी इच्छा के अनुसार वोट देने का पूरा अधिकार है।'

आज जब भारत में हरिजनों के प्रति एकता का व्यवहार किया जाने लगा है, जी चाहता है कि अमेरिका में भी नीग्रो के प्रति हर कहीं समानता का व्यवहार आरम्भ हो, जिसका कि किसी भी जनतन्त्र में उसे अधिकार होना ही चाहिए। मैं सदैव इस प्रतीक्षा में रहता हूं कि वह नीग्रो सैनिक, जो दिल्ली में कनाट प्लेस की बैंच पर बैठा मुझे मिल गया था, मुझे अपने पत्र में यह सुखद समाचार लिख भेजे कि आज से नीग्रो भी एक स्वतन्त्र देश का नागरिक है—प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक अवस्था में!
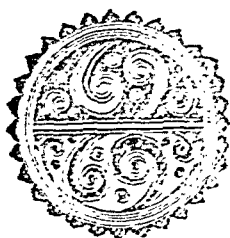
स्वागतम्, ओ नये युग !

जब गत वर्ष पन्द्रह अगस्त के दिन भारत ने दो सौ वर्षों की गुलामी के पश्चात् पहली बार आजादी की सांस ली, राजधानी में विशेष रूप से जगमगाहट की गई थी, लाल किले पर तिरंगा राष्ट्रीय झण्डा फहराया गया था; और जो खुशियां उस समय मनाई गई थीं, उनके दृश्य देश के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। स्वाधीन देशों की ओर से भारत की राष्ट्रीय सरकार को बधाई के जो संदेश प्राप्त हुए थे उनकी याद अभी ताजा है। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे आखिर फलीभूत हुए, और अनेक देशों ने यही कहा कि संसार के इतिहास में इस प्रकार की क्रांति, जो रक्त के छींटों से एकदम अछूती है, वस्तुतः एक अद्वितीय वस्तु है। इसके लिए राष्ट्रपिता गांधीजी को ही सब से अधिक श्रेय मिलना चाहिए, यह बात संसार के प्रत्येक देश ने मुक्तकंठ से स्वीकार की थी।

पर ज्यों ही स्वतन्त्रता का सूर्य उदय हुआ और स्वतन्त्रता की योजना के अनुसार देश का विभाजन हो गया, देश

को शरणार्थी-समस्या का सामना करना पड़ा। भाई-भाई के बीच एकता का सूत्र टूट गया; भाई-भाई के खून के छींटे धरती पर बार-बार गिरे; भाई-भाई की लाशें स्थान-स्थान पर नज़र आने लगीं। जैसे लोग एकदम पागल हो गए हों। उस समय राष्ट्रपिता ने फिर से भाई-भाई एक का नारा लगाया और उसका इतना असर ज़रूर हुआ कि शांति स्थापित होती चली गई। पर जिनके आशियाने उजड़ गए थे, जो नयी-नयी आशायें लेकर मरते-खपते बड़ी कठिनाई से उधर से इधर आने में सफल हो सके थे, उन्हें जो-जो कष्ट झेलने पड़े, जिस प्रकार उन्हें निराशा हुई, यह एक लम्बी गाथा है। जिस प्रकार राष्ट्रपिता एक सांप्रदायिक आततायी के हाथों गोली का निशाना बने, यह भी कुछ कम दुःखपूर्ण घटना नहीं है। देश ने स्वतन्त्रता तो प्राप्त की, पर राष्ट्र-पिता ही को इसकी सबसे बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। और शरणार्थी अभी तक नये आशियानों के लिए तड़प रहे हैं। जिनकी गांठ में पैसा था, उन्होंने हिम्मत से काम लेकर नयी-नयी राहें निकाल लीं, जो सब कुछ छोड़ कर, सब कुछ गंवा कर सीमा पार कर पाये, वे अभी तक स्वतन्त्रता का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं कर सके।

एक वर्ष बीत गया। दूसरा वर्ष शुरू हो रहा है। और स्वतन्त्रता की वर्षगाँठ के दिन, इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्र-पर्व के शुभ अवसर पर, देश की उमंगें स्वतन्त्रता की बाह्य रेखाएं देखने के लिए मचल उठी हैं। स्वतन्त्रता का आदर्श जनतन्त्र का वास्तविक माध्यम है। स्वतन्त्रता तो आई, पर हम अपना हिस्सा नहीं बंटा सके—कभी कोई सूझ-बूझ रखने वाला शरणार्थी कह उठता है। और फिर जैसे वह अपने और देश के प्रति सच्चा रहने का यत्न करते

हुए कहता है, 'शायद यह मुसीबत हम पर इसलिए पड़ी कि अभी तक हमने देश का पूरी तरह साथ नहीं दिया था।' कोई कहता है, 'अबके तो दिल नहीं उछल रहा, अगले वर्ष इस पर्व पर शायद हम भी खुशी से उछल सकेंगे।'

प्रजातन्त्र का मूलाधार है व्यक्ति—जैसे ऊंचाई पर हवा में फहराता हुआ राष्ट्रीय झण्डा भी आज यही घोषणा कर रहा हो। जिन्हें आज भी पेट भर रोटी नहीं मिल रही वे निराश हैं; जिन्हें आज तन ढंकने योग्य वस्त्र नहीं मिल रहा, उनके चेहरे आज भी उदास हैं। वे भी स्वतन्त्रता का स्वागत करना चाहते हैं। पर इससे पूर्व कि वे राष्ट्र-पर्व में सम्मिलित हों वे पूछना चाहते हैं कि स्वतन्त्रता तो आई, हमारे लिए क्या लाई। खैर, अवसरवादी महत्त्वाकांक्षी तो शायद प्रत्येक युग में रहे होंगे और आज भी उनकी कमी नहीं। वे समझते हैं कि स्वतन्त्रता के इजारेदार वही हैं।

अब जन-जन के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठेगा—जैसे राष्ट्रीय झण्डा आज यही घोषणा कर रहा हो। खूब उत्पादन बढ़ाओ और जो कुछ भी पैदा हो उसे समुचित रूप से वितरित करो—झण्डे की फरफराहट में जैसे आज यही आदेश प्रतिध्वनित हो रहा हो।

राष्ट्रपति ने इन्हीं दिनों जो वक्तव्य दिया था उसमें भी नये युग की आवश्यकताओं को भुलाया नहीं गया—'कांग्रेसियों को याद रखना चाहिए कि विदेशी सत्ता से स्वतन्त्र होने का कार्य यद्यपि सम्पन्न हो गया है, तथापि अन्य कई पेचीदा समस्याओं को सुलझा कर देश और देशवासियों को अधिक सुखी बनाने का इससे भी बड़ा कार्य अभी बाकी है। इस गठनमूलक कार्य के लिए लगन और ऊंची

भावना की आवश्यकता है। अभी भी हमें गरीबी, बीमारी और निरक्षरता का अंत करना है। वह समाज व्यवस्था कायम करनी है, जिस में सभी को सुख-सुविधा प्राप्त हो.....यह सब और कई तरह के जो काम अभी बाकी हैं, उन्हें करने के लिए हममें पिछले संघर्ष से भी अधिक दृढ़ निश्चय और त्याग की भावना की आवश्यकता है।'

राष्ट्रीय झण्डा बराबर फहरा रहा है। जैसे वह कह रहा हो कि सब ठीक हो जायगा। कहाँ हैं आज लेखक और कलाकार? जैसे झण्डे की फरफराहट में यह प्रश्न बार-बार प्रतिध्वनित हो उठता हो।

नये युग का स्वागत तो होना ही चाहिए। आज इस बात की भी आवश्यकता है कि देश के अतीत से भी प्रेरणा प्राप्त की जाय। आँखें भविष्य पर जमी रहें, मन में देश के स्वर्णयुग का ध्यान रहे। वह स्वर्णयुग कौनसा था? ईसवी चौथी-पांचवीं शताब्दि का युग, जब समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त जैसे प्रतापी सम्राटों ने समस्त देश को एकता के सूत्र में बाँधकर और देश-विदेश में व्यपार की बहुमुखी योजनाएं प्रस्तुत करते हुए इस धरती पर स्वर्ग की अपार-राशि भर दी थी, आज हमें सबसे अधिक प्रेरणा दे सकता है।

यही वह युग था जब महाकवि कालिदास मुक्त-कंठ से कह उठे थे कि देश में गुप्तों की स्वर्ण-मुद्राओं को देखकर ऐसा लगता है जैसे कुबेर के कोष से स्वर्णवृष्टि हुई हो। केवल महलों में ही लक्ष्मी का निवास नहीं था, उसके चरण प्रायः सुदूर, ग्रामों की ओर भी उठ जाते थे, गुप्तकाल में ही संगीत, काव्य, शिल्प-कला और चित्रकला की अभूतपर्व उन्नति हुई थी। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, देश का सिर उस युग में नये-नये मन्दिरों का निर्माण होता देखकर गर्व से ऊँचा उठ गया था; अनेक

गुफायें और अनेक विहार भी प्रस्तुत किये गए थे, जिनके अवशेष आज भी मौजूद हैं। उस युग की मूर्त्तियां आज भी पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि देश की संस्कृति में सुन्दरता के प्रति विशेष अनुराग उपस्थित रहता था। अनेक मूर्त्तियों में स्त्रियों के केश-विन्यास के ढंग देख कर तो आधुनिक स्त्री भी बहुत-कुछ सीख सकती है। 'कुमार-सम्भव' में कालिदास ने विशेष रूप से उल्लेख किया है कि उस युग की जनता रूप तो चाहती थी, पर वह रूप पापवृत्ति के लिए प्रयोग में नहीं लाया जाता था। पार्वती, इन्दुमती और यक्षिणी का रूप स्त्री-सौंदर्य की उच्चतम परम्परा का प्रतीक है। उस युग का एक और मन्त्र भी हमारे सम्मुख रहना चाहिए—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।' जो पुरातन था वह केवल पुरातन होने की हैसियत से ही अच्छा क्यों मान लिया जाय, क्योंकि सम्भव है नया उससे कहीं बढ़कर सिद्ध हो जाय। यही कारण था कि उस युग के कलाकारों ने अभूतपूर्व रचनाओं द्वारा देश के गौरव में वृद्धि कर दिखाई।

राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहा है। जैसे वह पूछ रहा है कि आज इस देश के लेखक और कलाकार क्या सोच रहे हैं। मेरा ध्यान फिर से गुप्तकालीन कला की ओर आकर्षित हो जाता है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं, 'मथुरा गुप्तों की शिल्प-कला का बहुत प्रसिद्ध केन्द्र था। मथुरा से प्राप्त पत्थर की खड़ी हुई बुद्ध प्रतिमा भारत की सर्वोत्तम मूर्त्तियों में गिनी जाती है, मूर्त्ति सादा है, पर सौंदर्य का अद्‌भुत उदाहरण है। झीने वस्त्रों के भीतर से झांकता हुआ शरीर चित्रित करने में शिल्पी ने कमाल कर दिया है। चाहे किसी भी मूल्य पर हमें वे चीजें वापस मिलें, हमें इसके

लिए तैयार रहना चाहिये।'

राष्ट्रीय झंडे की फरफर क्या कह रही है? शायद वह कलाकार से कह रही है कि वह इस युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मूर्त्ति प्रस्तुत करे। इस मूर्त्ति का स्थान तो जन-जन का हृदय ही हो सकता है। जिस युग-पुरुष ने गुलामी से दवे-पिसे देश को फिर से स्वतन्त्रता की भाषा प्रदान की और उसे परतन्त्रता के चंगुलसे छुड़ाकर फिर से सिर ऊंचा करने योग्य बनाया, उसकी मूर्त्ति पर कलाकारों की सामूहिक प्रतिभा केन्द्रित होनी चाहिए थी, जैसा कि वस्तुतः गुप्तकाल में भी हुआ होगा।

नये युग का स्वागत करते हुए हमारा ध्यान उस कला-सम्पत्ति की ओर अवश्य जाना चाहिए जो समय-समय पर हमारी परतन्त्रता के कारण विदेशी संग्रहालयों में पहुंचाई जाती रही हैं। क्या हम कोई ऐसा उपाय नहीं कर सकते कि यह कला-सम्पत्ति हमारे देश में लौट आए? तांबे की वह आदमकद बुद्ध-मूर्त्ति, जो भागलपुर जिले के सुलतानगंज नामक स्थान से प्राप्त हुई थी, कब तक कनिंघम के अजायबघर में पड़ी रहेगी? यह तो केवल एक उदाहरण मात्र है। स्वतन्त्र भारत का ध्यान अपनी इस कला-सम्पत्ति की ओर अवश्य जाना चाहिए। भारत से अनेक कला-वस्तुएं स्व० आनन्दकुमार शास्त्री द्वारा अमेरिका में बोस्टन के अजायबघर में पहुंच गईं। वे सब कब दोबारा जन्मभूमि को लौटेंगी? लन्दन के संग्रहालय से भी भारत की कला-सम्पत्ति वापस आनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी अब तुरन्त निपटा लेना चाहिए। अंगरेजी की गुलामी का तो अब प्रश्न ही नहीं उठता। यदि हम शिक्षा का सार्वजनिक प्रसार चाहते हैं, तो हमें राष्ट्रभाषा की ओर अग्रसर होना होगा। विहार, युक्तप्रांत और मध्यप्रांत ने हिन्दी को राजभाषा मान लिया है।

पूर्वी पंजाब में भी हिन्दी राजभाषा के रूप में अपनाई जा चुकी है। मालव संघ, राजस्थान संघ और हिमाचल प्रदेश आदि देश के अनेक विशाल भागों में भी अब हिन्दी का सिक्का चलेगा। समस्त देश की आँखें इस समय केन्द्र की ओर देख रही हैं। विधान परिषद् में अब राष्ट्रभाषा का प्रश्न अनेक दिनों तक खटाई में नहीं पड़ा रह सकता।

प्रान्तीय भाषाओं को हिन्दी की शक्ति से अपने-अपने गौरव में वृद्धि करने के अवसर प्राप्त होंगे, यह तो प्रत्यक्ष है।

राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहा है। जैसे वह पूछ रहा हो कि देश अब किस गति से आगे बढ़ेगा; जैसे वह कह रहा हो वह अमर है, क्योंकि उसकी वाणी युग-युग तक देशवासियों के हृदय और मस्तिष्क में प्रतिध्वनित होती रहेगी। बापू की मूर्त्ति एक आदम-कद—मूर्त्ति मेरी आंखों में उपजी है। एक अग्रसर होते मानव की मूर्त्ति, एक पग उठा हुआ, एक पग उठने को तैयार। यही मूर्त्ति नये युग का प्रतीक है। स्वागतम्, ओ नये युग!

चन्दनवाड़ी का कवि

उस दिन सुदर्शन-प्रेस अमृतसर में एक वयोवृद्ध सज्जन से भेंट हुई। वे ऐसे प्रेम से मिले, जैसे कोई अपने चिर-परिचित आत्मीय से मिलता है। बड़ी मजेदार बातें सुनने को मिलीं। उनकी एक-एक सूक्ति काव्य-रस से ओतप्रोत थी। बातचीत में ऐसा जान पड़ता था कि उनकी चिर-संचित अनुभूतियाँ और सुचिन्तित विचार धीर-गम्भीर गति तथा श्रुति-मधुर स्वर से एक-एक करके बाहर आ रहे हों। जीवन के सायं-काल में भी वे अभी तक युवक ही प्रतीत हो रहे थे। यही सौम्य-मूर्त्ति सज्जन पंजाबी भाषा के प्रसिद्ध कवि श्रीधनीराम 'चातृक' हैं। 'चातृक' महोदय पंजाबी काव्य-गगन के चमकते हुए सितारे हैं। उनकी प्रत्येक कृति अपनी नैसर्गिक ज्योति से जनता के मानस-जगत को आलोकित कर रही है। उन्हें काव्य-धन प्रदान करते हुए विधाता ने उदारता से काम लिया है।

अक्तूबर सन् १८७६ में 'चातृक' महोदय शिशु के रूप में माँ की गोद में आये। उस समय किसे ख़बर थी कि यह शिशु अपनी आयु के बीसवें वर्ष में ही कविता-देवीका कृपा-पात्र बनेगा

और अपनी रसमय कृतियों से अपना नाम अमर करेगा।

शुरू में उनकी कविताएँ अमृतसर से प्रकाशित होने वाले 'खालसा-समाचार' में निकला करती थीं। उनकी अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध होकर 'खालसा ट्रैक्ट सोसाइटी' ने उनसे कई एक ट्रैक्ट लिखा कर प्रकाशित किये। इससे वे और भी लोकप्रिय बन गये। काव्य-सम्बन्धी धारणाओं के निर्णय में उन्हें अधिक सहायता सुप्रसिद्ध पंजाबी कवि भाई वीरसिंह से प्राप्त हुई। अपने गुरुदेव के प्रति 'चातृक' के हृदय में आज भी असीम भक्ति तथा श्रद्धा विद्यमान है।

सन् १९०६ में उनके 'भर्तृहरि' तथा 'नल-दमयन्ती' नामक खण्ड-काव्य प्रकाशित हुए। इसके पश्चात् सन् १९०८ में मॉडल प्रेस लाहौर के मालिक भाई अमरसिंह ने उच्चकोटि की कविताओं का हत् संग्रह 'फुल्लां दी टोकरी' (फूलों की टोकरी) नाम से प्रकाशित किया। इसमें अधिकतर कविताएँ 'चातृक' की ही थीं। यह संकलन अब भी पंजाब-यूनिवर्सिटी की एफ० ए० की परीक्षा की पाठ्यपुस्तकों में नियत है।

इस परिवर्तनशील जगत में परिस्थितियों की लहरें हमें कहीं-से-कहीं ले जाती हैं। इन्हीं लहरों के प्रभाव से वे सन् १९११ में अमृतसर छोड़कर बम्बई चले गये। इस प्रवास में उन्हें पूरे तीन वर्ष लग गये। अमृतसर लौट कर भी उनका भार हलका न हुआ। सिर पर कड़ी जिम्मेदारियाँ और सम्मुख आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। इस प्रकार सन् १९११–१८ तक वे विकट परिस्थितियों से लोहा लेते रहे, इसीलिए इन दिनों वे अधिक नहीं लिख पाये। मुश्किल से आठ-दस छोटी छोटी रचनाएँ की होंगी।

समय ने पलटा खाया। साहित्यिक जाग्रति के दिन आये, और 'चातृक' नवीन स्फूर्त्ति और उत्साह के साथ फिर

काव्य-क्षेत्र में उतरे। उनकी कविताएँ पंजाबी भाषा के कितने ही मासिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित होने लगीं। इन पत्रों में 'प्रीतम', 'फुलवाड़ी', 'मौजी' तथा 'कवि' के नाम उल्लेखनीय हैं। आखिर सफलता की देवी उन पर मुग्ध हुई, और पंजाबी साहित्य-संसार में उनकी रचनाएँ बड़े चाव और आदर से पढ़ी और सुनी जाने लगीं। उनकी मंजी हुई भाषा तथा विचारों की सादगी जनता को बहुत ही पसन्द आई।

सितम्बर सन् १९२६ में अमृतसर में 'पंजाबी सभा' नामक साहित्यिक संस्था की नींव पड़ी। इसने अपने प्रधान का पद 'चातृक' को ही प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया।

अब उनकी मित्रमण्डली उनकी चुनी हुई रचनाओं का एक बृहत् संकलन देखने के लिए व्याकुल हो उठी। अतः दिसम्बर सन् १९३१ में उन्होंने इस मालाका प्रथम पुष्प प्रकाशित किया—सुन्दर, नयनाभिराम और खुशबूदार। नाम भी बहुत सुन्दर रखा – 'चन्दन-वाड़ी'। 'पंजाब टेक्स्ट बुक कमेटी' ने 'चन्दन-वाड़ी' के कवि को ७५०) पुरस्कार देकर इस रचना के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। 'चन्दन-वाड़ी' क्या है, मानव-हृदय के सरस चित्रों की एक खूबसूरत चित्रावली है। इस में सभी रंग हैं—सभी रस हैं। इस 'चन्दन-वाड़ी' में 'कवि-रचना' शीर्षक कविता में 'चातृक' ने कवि की उत्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं—

'ब्रह्मा ने फूल से सुगन्ध ली और मधु से मिठास; मक्खन से कोमलता ली और पारे से तड़प; ओस से शीतलता ली और हिम से निर्मलता; तारों से चमक ली और दामिनी से प्रकाश; सूर्य से गर्मी ली और चन्द्रमा से रस-राशि—इन सब वस्तुओं को परस्पर मिलाकर उसने एकरूप तथा एकरस कर दिया।

फिर इस मिश्रित मसाले से ब्रह्मा ने एक पुतला बनाया,

उसे प्रकाश का लिबास पहनाया, और उस का नाम 'कवि' रख कर उस में प्रेमरूपी जीवन का संचार कर दिया।'

आगे चल कर कवि के भाग्य की बात लिखते हैं—

'विधाता कवि का भाग्य लिखने लगे, तो उन्होंने उलटी लेखनी चला दी। अतृप्त अभिलाषा, असफलता, करुण वेदना, वियोग की चुभती हुई पीड़ा—यह थी कवि की भाग्य-राशि।'

इसी प्रकार एक स्थल पर 'कवि' को सम्बोधन करके 'चातृक' कहते हैं—

'रे कवि! तू उन जहाज़ों का मल्लाह है, जो क़ौमों का बेड़ा पार लगाया करते हैं।

रे कवि! तू उस शीतल बासन्ती वायु का झोंका है, जो देश-प्रेम के कानन को प्रस्फुटित किया करती है।

रे कवि! तू वह अमृत है, जो प्राणहीन आत्माओं में नव-जीवन का संचार किया करता है।'

बुलबुले की नश्वरता पर अनेकों कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। 'चातृक' ने भी इस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है। वे बुलबुले को सम्बोधन करके पूछते हैं—

'रे बुलबुले! ज़रा बैठ कर सोच तो सही, कहीं तेरे इस झूलते हुए महल की आधार-शिला ढोल की पोल पर तो स्थित नहीं है।'

इस पर बुलबुला उत्तर देता है—

'अग्गों बुलबुले ने एह जवाब दित्ता,
तूँ घबरा न ऐड्डा अनजान नहीं मैं,
सिर ते बन्ह खफ्फन घरों निकलया सां,
लम्मी उमर ते बेचदा जान नहीं मैं।
आये हवा भुक्खो, डेरा कूच कीता,
घड़ियाँ पलां तों बहुत महमान नहीं मैं।

पक्के पैंतड़े बन्ह के बहिण वाला,
हिरसा विच्च ग़लतान इनसान नहीं मैं।
मैं ताँ हस्स के नूर विच्च नूर बनना,
तूँ होरथे रागणी गा जाके।
ऐशाँ विच्च जो रब्ब भुलाई बैठे,
मौत उन्हाँ नूँ याद करवा जाके।'

बुलबुला कहने लगा, 'हे कवि ! तू घबरा मत ; मैं इतना अनजान नहीं हूँ। मैं तो सर पर कफन बाँध कर घर से निकला था ; मैं चिर-आयु का इच्छुक नहीं हूँ।

इस संसार में आ कर जरा हवा खाई और बस डेरा कूच कर दिया। मैं एक-आध घड़ी या पल से अधिक समय का अतिथि नहीं हूँ।

मैं तो बुलबुला हूँ ; लोभी मनुष्य की भाँति मैं संसार में आकर सदैव के लिए संसार में ही नहीं रहना चाहता।

मुझे तो हँसते हुए अनन्त में घुल-मिल जाना है ; अपनी यह रागिनी तू किसी अन्य स्थान पर जाकर अलाप।

जा, जाकर मृत्यु की याद उन्हें करा, जो भोग-विलास में लिप्त हो कर ईश्वर तक को भुलाये बैठे हैं।'

काश्मीर-प्रदेश में चिनार के वृक्ष बहुतायत से होते हैं। चिनार एक अत्यन्त विशालकाय वृक्ष है। उस की उम्र भी काफी होती है। चिनार के वृक्ष काश्मीर की स्वर्गीय शोभा के एक अंग हैं। राज्य की ओर से उनके काटने की एकदम मनाही है- इस लिए वहाँ बूढ़े-बूढ़े चिनार भी मिलते हैं। कविने उन का सौंदर्य देखा, और वह उन की मनोहरता और गुणों पर मुग्ध हो गया। अतः वह चिनार को सम्बोधन करके कहता है—

'सुरगी रुक्ख, बजुरग-चिनारा ! रूप जलाली पाया,
कूले कूले पत्र तेरे, ठण्डी संगणी छाया।

कद उचेरा, मुड्ड मुटेरा, लम्मा चौड़ा घेरा,
पिप्पल तेरा पाणी भरदा, बोहड़ नूँ शरमाया।
सै वरेहाँ तों ज़ोहद कमावें खड़ा-खड़ा इकटंगा,
धुप्प सहारें अपने उत्ते, होराँ नूँ कर साया।
केई पूर लंघाये हेठों डिट्ठे कई ज़माने,
परउपकार तेरे ने, बाबा! मेरा मन भरमाया।'

'हे स्वर्गीय वृक्ष! तुम एक बुजुर्ग हो। कितना दिव्य सौंदर्य पाया है तुम ने! कैसे नर्म-नर्म हैं तुम्हारे पत्ते और कैसी घनी शीतल है तुम्हारी छाया।

तुम्हारा क़द ऊँचा है और तना खूब मोटा। कितना लम्बा-चौड़ा है तुम्हारा घेरा!

पीपल तुम्हारे सामने पानी भरता है, और वट तुम्हारे आगे आने से शरमाता है।

सौ वर्षों से तुम एक टाँग के बल खड़े-खड़े तपस्या कर रहे हो। स्वयं धूप सहते हो और दूसरों को छाया प्रदान करते हो।

कितने ही जनसमूह तुम्हारे नीचे से गुज़रे हैं, और तुम ने कितने ही ज़माने देखे हैं।

बाबा! तुम्हारे परोपकार ने मेरा मन मोह लिया है।'

फिर कवि चिनार से पंजाब में चलने की प्रार्थना करता है—

'चल्लें जे पंजाबे बन्ने दुनियाँ नवीं विखावाँ;
मैदानां विच धुप्पां ताईं धुप्पां बत सताया।'

'हे चिनार! यदि तुम पंजाब चले चलो, तो तुम्हें एक नई ही दुनिया दिखाऊँ; वहाँ जनसाधारण को गरमी ने सता रखा है; चलो, वहाँ चल कर उन का उपकार करो।'

फिर कवि स्वयं ही चिनार की ओर से उत्तर देता है—

'चल्लण नूँ सौ वारी चल्लणाएँ, बीबिया बरखुरदारा!
पर पंजाबे अन्दर मेरा होणा नहीं गुजारा।

इन्हाँ उचाइयाँ दे विच्च तैनूँ बरकत मेरी जाये ;
रत्ता कु हेठ उतरयाँ इस ने करना तुरत किनारा।'

'चलने को तो मैं सौ बार चलता हूं ; पर हे मेरे लाडले बरखुरदार ! पंजाब में मेरा गुज़ारा न हो सकेगा। इन ऊंचाइयों के ऊपर तुझे मेरा जो सौंदर्य दिखाई दे रहा है, ज़रा-सा नीचे उतरते ही, वह किनारा कर लेगा।'

किसी-किसी स्थल पर 'चातृक' की सूझ बहुत ऊँची उठ गई है। आँखों पर ज़रा 'चातृक' का कमाल देखिये—

'प्रेम का निवास-स्थान स्वर्ग है।

एक दिन प्रेम संसार की सैर करने नीचे उतर आया, और जिस प्रकार ओस वनस्पति के ऊपर मोतियों का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार प्रेम ने इन दो आँखों का रूप धारण कर लिया।

कितनी कोमल और सुन्दर हैं ये दो आँखें ; ये आँखें नहीं, प्रेम की अवतार हैं। कितनी चंचल हैं वे, कितनी रसमय, कितनी निर्भय और कितनी स्वतन्त्र !

दिव्य प्रकाश के प्याले पी-पी कर ये आँखें नशे से चूर हो रही हैं।

ऊँचे झरोखे पर बैठ कर आँखें राह-चलते पथिकों पर डोरे डाल-डाल कर, अपने तीखे तीरों से, अनेक हृदय बेंधती हैं।

एक दिन उलटी तकदीर लड़ गई। सामने से सौंदर्य का देवता गुजर रहा था। आंखोंने शिकार खेलना चाहा; पर वे स्वयं ही अपने शिकार के पंजे में फंस गई ! बेचारियों के हथियार कसे-के-कसे ही रह गए।

आँखें बुरी तरह ज़ख्मी हुईं, चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगीं—
'हम इस रंगीले बाज़ार में लूट ली गई हैं।'

अपनी 'कवरिस्तान' शीर्षक कविता में 'चातृक' खूब सफल हुए हैं। कविता क्या लिखी है, एक तसवीर खींच कर रख दी है। इस कविता का पूर्ण रसास्वादन तो इसके मूल रूप में ही किया जा सकता है, क्योंकि कितने ही स्थल ऐसे हैं, जो अनुवाद में अपना वास्तविक जोर नहीं दिखा पाते। कविता लम्बी है, इसलिए केवल अनुवाद ही दिया जा रहा है—

'इस शोरगुल से भरी दुनिया में एक एकान्त वस्ती भी है। खामोशी यहां की आवाज़ और उदासी यहां की रौनक है।

यहाँ न कोई दीपक ज़लता है, न कोई पतंग ही निछावर होता है; न कोई पुष्प खिलता है, न भ्रमर अपने संगीत से यहां के निवासियों का जी वहलाता है।

कितनी ही शताब्दियों से इकट्ठे रह रहे हैं इस मूक नगरी के निवासी; पर न उनकी कोई एक भाषा है, और न वे अपनी अन्तर्वेदना कहने की चेष्टा ही करते हैं।

यहां के वासी अपनी-अपनी छातियों में अभिलाषाएँ छिपाए पड़े हैं, और पैर पसारे सो रहे हैं, जबसे उन्होंने इन महलों में रहना आरम्भ किया है, तबसे आज तक कभी उन्होंने द्वार तक नहीं खोले।

अनेक प्रकार के हैं यहाँ के रहने वाले। कोई-कोई ऐसी आध्यात्मिक मदिरा का पान किये पड़े हैं, जिसका नशा अब तक नहीं उतरा। न उन्होंने प्याले ही सीधे किये हैं, और न साक़ी की ओर ताका ही है।

कोई-कोई ऐसे हैं, जिनकी शतरंज की बिसातें बिछी ही पड़ी हैं, उन्होंने उठकर अपना खेल भी खत्म नहीं किया, कितनों ही को अपनी नई-नवेली दुलहिनों की बिछाई हुई पुष्प-शय्याओं

पर बैठने तक का अवसर नहीं मिला।

कोई बहरामपुर के महलों का राजदुलारा है, तो कोई जसशोदनगर के सौभाग्याकाश का टूटा हुआ सितारा, कोई विलास-कानन की कोमल कली है, जो फूल तथा दीपक के दर्शनों के लिए तरस रही है, कोई अपने प्रीतम की प्रतीक्षा में बैठी हुई दीपशिखा की-सी वधू है, जो पतंगों से आंख बचाने का यत्न कर रही है।

हे इस शांत नगरी के निवासियो! जरा आंख तो खोलो, करवट तो बदलो।

किसलिए है यह लम्बी नाराजगी? अब जरा मुंह तो खोलो। तुम लोग किसकी आंखों के तारे हो? किस माँ के लाल हो? किन देशों के राजकुमार हो? किन अप्सराओं की पुत्रियों के पति हो?

कितने कोमल थे जीवनकालमें तुम्हारे शरीर? कितना इत्र-फुलेल तुम अपने शरीर पर लगाते थे?

कैसा शृंगार करते थे तुम, और किस हंस-गति से चला करते थे? किस रणस्थल में दिखाये थे तुमने अपनी तलवारों के जौहर? कितना मान और गौरव पाया था तुमने? हाँ, यह भी बताओ कि तुमने धन कितना संग्रह किया था? कितनी धरती पर कब्जा किया था?

तुममें से कौन-कौन से बड़े-बड़े सम्राट् थे, और कौन-कौन थे उन सम्राटों के दरबारी? हाथी पर कौन चढ़ा करता था, और कौन द्वार-द्वार भिक्षा मांगता फिरता था? फूलों की सेजों पर कौन सोया करता था, और कौन धूल में लोटता था? कौन मजदूरी किया करता था, और किसके सिर पर छत्र झूलता था?

न-जाने इस उड़ती हुई धूल में किस-किस के मस्तकों

के परमाणु मिले हुए हैं ? सम्राट और कङ्गाल एक साथ मिल कर आकाश में भटकते फिरते हैं। कभी का नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है इतिहास का वह पन्ना, जो हमें उनके वंश से परिचित करा सके।

आज जो छत्रपति इस मिट्टी में मिला पड़ा है, किसी दिन वही महलों का वासी था।

कबरों की मिट्टी बन गई है (महाप्रतापी सम्राट) 'खुसरो' की खोपड़ी। कुम्हार ने उसे अपने चाकपर चढ़ाने के लिए पानी डाल-डालकर गूंथा है। वह झगड़ालू जिह्वा, जो ललकार कर कुम्हार को ऐसा करने से रोक सके, कभी को टल चुकी है, अब कहाँ बाक़ी हैं वह भुजाएं, जो अपनी तलवार के ज़ोर से ही कुम्हार के हाथ क़लम कर लेतीं ?

यदि कुम्हार चाहेगा,तो इस मिट्टी से दीपक गढ़कर उसे फिर एक बार क़बरिस्तानमें किसी क़ब्र पर रख देगा, या प्याला बना कर उसका स्पर्श प्रेमिकाओं के होंठों से करा देगा।

बेक़दरोंके पंजेमें फंस कर भी क़बरिस्तानका एक भी निवासी फ़रियाद तक नहीं करता। प्रकृति देवोके परिवर्तनों को यहां के निवासी चुपचाप देखते रहते हैं।

आ रे मेरे मन ! हम भी इस क़बरिस्तान में ही पड़े रहें। फिर पीछे जाकर हमें करना ही क्या है ? दुनिया का जीवन है केवल दो-चार दिनका, अन्तमें तो यहीं आना है।

सांसारिक जीवन में लालच के दांव-पेच के सिवा रखा ही क्या है ? पर इस स्वर्गमें नाममात्र भी कष्ट नहीं है। यहाँका नशा एक बार चढ़कर फिर उतरता ही नहीं।"

क़बरिस्तान के साथ वार्त्तालाप करते-करते कवि की वाणी में आत्मीयता आ गई है। आख़िर वह क़बरिस्तान में ही रह जाना चाहता है, और वापस लौटने की बात उसे पसन्द नहीं आती।

इस कविता को देख कर स्वर्गीय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'स्मशान' शीर्षक कविता याद आ जाती है।

× × ×

'सुरगी जीऊड़े' शीर्षक कविता में एक ग़रीब मज़दूर के घरेलू जीवन का चित्र अंकित किया गया है, जिसे पढ़कर पाठक का हृदय अनायास ही मज़दूर के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो उठता है। कवि स्वयं मज़दूर की दीन-कुटी में अमीरों से कहीं अधिक शान्तिमय जीवन पाकर मोहित हो गया है। कविता का अर्थ है—

'पर्वत के पाद-तल में थोड़ी दूर तक समतल भूमि चली गई है। एक ओर छोटे-छोटे कंकरोंके ढेर हैं; और दूसरी ओर श्यामल घास का फ़र्श बिछा हुआ है।

यहीं एक झोंपड़ी है। वर्षा ने इसे काफ़ी से ज्यादा तोड़-फोड़ रखा है। उसका छप्पर डोल रहा है, और चारों दीवारें तड़की हुई हैं।

एक मज़दूर है इस झोंपड़ी का निवासी। कङ्गाली है इस मज़दूर की माया, मज़दूरी इसका सहारा है, और सन्तोष उसकी पूंजी।

दिन-भर बेचारा परिश्रम की चक्की पीसता है और अपनी हड्डियां पीस-पीस कर खाता है। प्रभात होते ही वह अपने काम पर निकल पड़ता है, और सायंकाल घर लौटता है।'

अब ज़रा मज़दूर की झोंपड़ी का भीतरी दृश्य देखिये—

'दो टूटी-फूटी चारपाइयां हैं। कुछ वस्त्र हैं, जिनकी आधी आयु शेष हो चुकी है। मिट्टी के दो प्याले हैं, और मिट्टी ही का एक आटा गूंधने का पात्र है।

खिड़की के समीप ही एक चूल्हा है, जिसमें गाँठों वाली लकड़ियां सुलग रही हैं। चूल्हे पर काली-कलूटी हाँडी में पालक के पत्ते उबल रहे हैं।

नन्हें बच्चों को लिये हुए एक स्त्री अपनी फटी हुई चादर

की मरम्मत कर रही है।

जब शिशु ऊपर की ओर ताकता है, माता हँसती-हँसती उस की आँखों में आंखें डाल देती है।

जब कभी शिशु मुँह बसूरता है, माता के दिलको न-जाने क्या होने लगता है; प्यार की ओस (अश्रु धारा) बहा-बहाकर वह इस चम्पे की कली—शिशु को प्रस्फुटित करती है।'

आगे चलकर कवि मज़दूर-पत्नी के बाह्य और आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालता है—

'इस मज़दूर-पत्नी के हाथों में सूई-धागा है, और हृदय में अपने पति के लिए अपार प्रेम। कितना वास्तविक और चिर-स्थायी है यह प्रेम !

अपने ग़रीब मज़दूर पति की स्मृति में उसका मन मस्त रहता है, अपनी कुटिया को वह राजमहल से कम नहीं समझती।

सायंकाल होने को आया। मज़दूर अब वापस आने को है। कवि इस समय का चित्र खींचते-खींचते थके हुए मज़दूर के ध्यान में इतना निमग्न है कि वह सूर्य की तुलना भी अपने थके हुए मज़दूर से ही करता है—

'दिन नीचे उतरा जा रहा है, और सायंकाल अब आया ही चाहता है। सूर्य के सारे-के-सारे तीर समाप्त हो गये हैं, और अब उसने पश्चिम की ओर मुँह फेर लिया है।

जिस प्रकार थकावट से चकनाचूर होकर मज़दूर अपना टाट बिछाता है, उसी प्रकार मानो क्लान्त सूर्य आकाश पर ज़री किनारी के थान बिछा रहा है।'

मज़दूर घर पहुंचता है। बच्चे अपने पिता की गोद में जाने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। कवि एक दार्शनिक के रूप में इस दृश्य का अध्ययन करता है और कह उठता है—

'एक ओर माया है और दूसरी ओर तृष्णा, दोनों आँखों

में आँखें डालकर न-जाने कौन-सी भेद-भरी बातें कर रही हैं।

चुम्बक लोहे से अधिक जल्दबाज़ हो गया है और भूमि पर पैर नहीं टिकाता। उधर लोहा टाँगें तो सिकोड़ता जाता है, पर बाहें फैलाता जाता है।'

पिता-पुत्र एक दूसरे से चिपट जाते हैं। इसका चित्रण देखिये—

'एक बालक सामने से आकर पिता की छाती को शीतल कर रहा है, और दूसरा पीछे से पीठ से चिपक गया है। इन दोनों पाटों में मज़दूर की सारी-की-सारी चिन्ता पिस जाती है।

झोंपड़ी तक आते-ही-आते मज़दूर की सारी थकान हवा हो गई, और प्रेम के झूले में झूलते ही उसका हृदय मोतियों के फूल की भाँति खिल उठा है।'

आगे चलकर कवि ग़रीब मज़दूर की झोंपड़ी को मन्दिर के रूप में देखता हुआ उसके दाम्पत्य-जीवन पर प्रकाश डालता है—

'मज़दूर-पत्नी इस मन्दिर की मलका (सम्राज्ञी) है, और मज़दूर शाह सिकन्दर (सम्राट्); वह मज़दूर के लिए अपना जीवन कुरबान किये हुए है, और मज़दूर उसकी ख़ातिर मरने तक से नहीं डरता।

मज़दूर-पत्नी मोरनी की भाँति आनन्दित हो उठती है, तो मज़दूर आनन्द से नाच उठता है; इस प्रकार इस प्रेमी पति-पत्नी का घर स्वर्ग का रूप धारण कर लेता है।'

अन्त में निम्न-लिखित पद्य के साथ कवि चुप हो जाता है—

'मायाधारी जिन शान्तमय जीवनहित घुलदा रैंदा है;
ओह इस कख्खाँ दी कुल्ली विच्च मज़दूर पास आ बैंदा है।
शाहो महिलां दियाँ सेजांते, जो नींदर तोड़े कसदी है;
ओह रास बहिश्ते आ आके, 'चात्रिक' दियाँ तलियाँ झसदी है।'

'वह शान्तिमय जीवन, जिसके लिए अमीर सदैव घुलता

रहता है, इस घास-फूस की झोंपड़ी में मज़दूर के पास आ बैठता है। शाही महलों की सेजों पर जिस निद्रा को चैन नहीं आता, वह इस स्वर्ग में—मज़दूर की झोंपड़ी में—आकर कवि 'चातृक' के पैरों के तलुए सहलाती रहती है।'

मज़दूर के दुःखपूर्ण, पर अमीर से कहीं अधिक शान्तिमय, जीवन का चित्रण करते-करते कवि स्वयं मज़दूर की स्वर्ग की-सी झोंपड़ी में निवास करने के लिए उत्सुक हो उठा प्रतीत होता है।

'चातृक' साहब ने बहुत-सी 'रुबाइयाँ' भी लिखी हैं। कहीं-कहीं तो कवि की क़लम चूम लेने को दिल चाहता है। यहाँ कुछ रुबाइयों के अनुवाद दिये जाते हैं—

'शेर ने कहा—रे कुत्ते! तुझ में ज़रा भी आत्माभिमान नहीं है। ज्यों-ज्यों लोग तुझे दुत्कारते हैं, त्यों-त्यों तू उलटा और भी पूछ हिलाता है।

मुझ में और तुझ में केवल एक ही अन्तर है कि मैं स्वयं मार कर खाता हूँ और तेरी बुद्धि पराये टुकड़े खा-खाकर अपवित्र हो गई है।'

× × ×

'लकड़हारे ने चन्दन पर कुल्हाड़ा चलाया।

कुल्हाड़े की ज़ंग उतर गई और वह सुगन्ध में बस गया।

चन्दन की उदारता देख कर कवि सोचने लगा—क्या बुरे के साथ नेकी करने से बुरा बुराई से शरमा जाता है?'

× × ×

'ऊँचे टीले ने गढ्ढे से पूछा—'भई, तुमने ऐसे कौन से शुभ कर्म किये हैं कि वर्षा होती तो है मेरे सिरपर; पर जल दौड़ जाता है तुम्हारी ओर?'

× × ×

'क़िस्मत को क्यों कोसता है, रे भोले !
क़िस्मत तो पुरुषार्थ की अर्द्धांगिनी है।

साहस है वह पारस पत्थर, जो झट लोहे से सोना बना देता है।

मंगल तथा शनि अपने-अपने घरों में ही बैठे रहते हैं, और पुरुषार्थ तथा साहस सभी बिगड़े काम सँवार देते हैं।'

× × ×

'तलवार ने पूछा—अरे धनुष ! तुमने पिछले जन्म में ऐसे कौन से पुण्य किये हैं कि वीर सिपाही मुझे तो अपनी कमर में लटकाता है और तुझे अपने कन्धों पर चढ़ाता है ?

धनुष ने उत्तर दिया—अरी तलवार ! इसका कारण यह है कि तू अकड़ी रहती है, और मैं समय पर झुक भी जाता हूँ, इसी से तो मुझे इतना सम्मान प्राप्त हुआ है।'

× × ×

'पंजाब' को सम्बोधन करते हुए 'चात्रक' लिखते हैं—

'अति प्राचीन है तेरी सभ्यता, रे पंजाब ! और अद्वितीय है तेरा वैभव ; तक्षशिला तेरे इतिहास की एक धुँधली-सी निशानी है।

प्रकृतिदेवी ने तुझे ऋषियों और अवतारों का, सूफ़ियों और शहीदों का, भक्तों और वीरों का तथा पतिव्रताओं और सतियों का पालना बनाया था।...

गुरु अर्जुनदेवजी और गुरु तेगबहादुरजी तुझ पर जान कुर्बान करते रहे।

बाबा नानक और बाबा फरीद तेरे ही शिशु थे ; अपनी छाती का दूध पिला-पिलाकर ही तूने उन्हें पाला था !

संसार को प्रकाशित करने के लिए तूने कितने ही दीपक जलाये हैं।'

यह कविता बहुत लम्बी है, और इसका आनन्द मूल में ही आता है। 'चातृक' की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि गम्भीर-से-गम्भीर और गूढ़-से-गूढ़ बात को भी ऐसे सीधे-सादे शब्दों और ऐसी आम-फहम भाषा में कहते हैं कि उन्हें सुनते ही अशिक्षित पंजाबी तक आसानी से समझ लेते और फड़क उठते हैं।

अढ़ाई करोड़ आदिवासी

आदि-वासियों की समस्या बहुत कम लोगों की समझ में आती है। कुछ लोग तो इतना भी नहीं जानते कि इनकी जनसंख्या क्या है और वे देश के किस कोने में रहते हैं। इनमें से कुछ-एक कबीलों के नाम तो प्रायः सभी को कंठस्थ होगये हैं। जैसे कोल, संथाल, गोंड, भील परन्तु बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे जिन्हें प्रत्येक कबीले का नाम स्मरण हो। ये सभी कबीले वनों तथा पर्वतों में रहते हैं, इतना तो हर कोई बता सकता है। ये सभी कबीले सभ्यता की दौड़ में बहुत पिछड़ गये हैं, इतना तो सभी मानते हैं। यदि आप पूछ बैठें कि इसका क्या कारण है तो बहुत से लोग अवाक् होकर आपके मुँह की ओर देखने लगेंगे और यदि आप जरा आगे बढ़ कर पूछ लें कि बताइए इन कबीलों के प्रति आप देश की जिम्मेदारी कहां तक समझते हैं तो कदाचित् वे इधर-उधर की चर्चा छेड़कर इस समस्या को टालने का यत्न करेंगे।

एक प्रसिद्ध मानवशास्त्रवेत्ता के कथनानुसार हिन्दुस्तान के

अधिकांश आदिवासी कबीलों का वंश आस्ट्रेलिया के आदि-वासियों से जा मिलता है। बहुत से अन्वेषक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अंडमान द्वीप के आदि-वासी हब्शी परिवार के वंशज हैं। आसाम की पहाड़ियों में जो आदि-वासी जातियां बसी हुई हैं वे सब-की-सब मंगोलियन वंश की परिचायक हैं। कुल मिला कर हिन्दुस्तान के आदि-वासियों की जनसंख्या अढ़ाई करोड़ के लगभग है। सच पूछा जाय तो इनके जातिगत सम्बन्धों के विषय में अत्यन्त परिश्रमशील अन्वेषण की आवश्यकता है। ५००० वर्ष पुराने मोहेनजोदड़ो युग से भी कहीं पहले से ये जातियां इस देश में मौजूद हैं। प्रत्येक जाति का आचार व्यवहार अलग-अलग है। यद्यपि बहुत से स्थानों पर आचार व्यवहार की एकता भी दृष्टिगोचर होती हैं।

सभी आदि-वासी जातियां सभ्यता के सम्पर्क से अछूती रह गई हों यह बात नहीं। ज्यों-ज्यों आर्यों की संस्कृति, जो एक जागरूक सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती थी, फैलती चली गई, आदि-वासी जातियों की संस्कृति संकट में पड़ गई। जब भी संसार के इतिहास में ऐसे अवसर आये हैं, आदि-सभ्यता के लिये यह अत्यन्त असंभव हो गया कि वह अपने से उन्नत सभ्यता के सम्मुख डट कर खड़ी रह सके। अतः हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही हुआ। आदि-वासी जातियों को अपने बचाव के लिए वनों और पर्वतों का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। परन्तु आर्य संस्कृति के प्रभाव से बच सकना कुछ सहज न था। आदि-वासियों के अनेक वंशज हिन्दू समाज के निम्न स्तरों में समाते चले गये। भले ही आप उन्हें उनके वास्तविक रूप में न पहचान सकें। परन्तु यदि जरा ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमारे समाज में आप को आदि-वासियों के वंशज अवश्य नजर आ जायेंगे। इनका आचार-व्यवहार समय ने बहुत कुछ

बदल डाला है, यद्यपि उनके चेहरों पर युग-युग का इतिहास लिखा हुआ प्रतीत होता है और उनकी धमनियों में आज भी उनके उन्हीं पूर्वजों का रक्त बहता है जिनके एक करोड़ के लगभग वंशज आज भी हमारे देश में मौजूद हैं, जो वनों और पर्वतों की शरण में रहने के कारण बदलते हुए जमाने से बचकर जीवन व्यतीत करते रहे।

अढ़ाई करोड़ में से डेढ़ करोड़ आदिवासी या तो बाकी के एक करोड़ वनवासी कबीलों की भांति वन-जीवन से ओत-प्रोत नहीं रह सके या वे अपनी संस्कृति के स्थान पर हिन्दू संस्कृति से प्रभावित होने के कारण अपने अन्य सहवंशजों से दूर चले गये। बहुतों ने अपनी मूल-भाषा छोड़ दी और उसके स्थान पर पास के प्रांत की भाषा को अपना लिया। यह भाषा छूटने का क्रम किसी-किसी स्थान पर आज भी चल रहा है।

जहां तक आदिवासियों की समस्या का सम्बन्ध है, हमें इस समूची अढ़ाई करोड़ जनसंख्या की दृष्टि से ही किसी परिणाम पर पहुँचना होगा क्योंकि यदि उनकी आर्थिक गति विधि या संस्कृति पर विचार किया जाय तो वे अन्य सभ्य समाज के मुकाबले में प्रायः समान रूप से पिछड़े हुए हैं।

मुझे उन कबीलों का परिचय प्राप्त करने के अनेक अवसर मिले हैं जिन्हें आधुनिक सभ्यता छू भी नहीं गई। उनके यहां आज भी कृषि का प्रारम्भिक रूप नजर आता है जिसे हम 'चल खेती' कह सकते हैं। यह उस समय का स्मरण दिलाती है जब मनुष्य के मस्तिष्क ने हल से काम लेना नहीं सीखा था। वन के किसी भाग में आग लगा दी जाती है, फिर इसी राख में बीज डाल देते हैं। इस प्रकार वन के विभिन्न भागों में स्थान बदल-बदल कर खेती की जाती है। यहां यह बता देना भी अनुपयुक्त न होगा कि किसी-किसी कबीले की संस्कृति हल

के प्रति तिरस्कार का भाव रखती है। किसी कबीलेदार से पूछ देखिये, वह यही कहेगा कि हल से धरती माता के वक्षस्थल को चोट पहुँचती है, अतः हल उसके लिए तिरस्कारके अतिरिक्त भय की वस्तु है।

आदिवासियों का सामाजिक जीवन विशेष महत्त्व रखता है। प्रायः गांव की चौपाल का निर्माण कुछ इस प्रकार किया जाता है कि चारों ओर यह घरों से घिरी रहे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त यही चौपाल गांव की मुख्य जगह मानी जाती है जहां बैठ कर गांव के सम्बन्ध में छोटे-बड़े फैसले किये जाते हैं। गांव का प्रत्येक कार्य मुख्य रूप से सामाजिक गतिविधि का प्रतीक बन जाता है क्योंकि इस में समस्त गांव भाग लेता है। गांव भर के नवयुवक मिलकर एक ही स्थान पर सोते हैं और 'कुमार-आश्रम' की इस प्रथा पर समस्त कबीले का सिर गर्व से ऊँचा उठ जाता है। यही वह स्थान है जहां कबीले के नवयुवक कबीले की परम्पराओं तथा रीतियों की मौखिक शिक्षा पाते हैं। कुछ कबीले ऐसे हैं जहां गांव के 'कुमार आश्रम' में गांवों के युवकों और युवतियों के लिए एक साथ सिम्मिलित रूप से रहने की प्रथा चली आती है और कहीं-कहीं युवकों और युवतियों के लिए अलग-अलग स्थान स्थिर किया जाता है।

कबीलेदार से पूछ देखिए, वह बताएगा कि उनके यहां भूमि किसी प्राणी विशेष की सम्पत्ति नहीं है। वन का वह भाग, जहां गांव के लोग खेती करते हैं, समस्त गांव अथवा कबीले ही के अधिकार में रहता है। किसी-किसी कबीले में यह प्रथा भी चली आती है कि गांव का समस्त अनाज किसी एक स्थान पर जमा किया जाय और आवश्यकतानुसार इसका वितरण किया जाय। इस पद्धति को हम आधुनिक समाजवाद के अत्यन्त निकट पाते हैं।

प्रत्येक ऋतु वनवासियों के लिए अपने साथ एक उत्सव लाती है, जब समस्त कबीला मिलकर गायन तथा नृत्य से ओतप्रोत हो उठता है। विशेषतया वसन्त आदि-वासियों के सामाजिक जीवन में नये आनन्द की वृद्धि करता है। इन उत्सवों की पृष्ठ भूमि में भी, जैसा कि आदि-वासियों के समस्त जीवन में पग पग पर दृष्टिगोचर होता है, अनेक मूढ़ विश्वास तथा जादू टोने का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वन के वातावरण के अनुरूप आदि-वासियों की संस्कृति प्रत्येक उत्सव, ऋतु के सौंदर्य तथा आनन्दोल्लास के सजीव चित्र उपस्थित कर देती है। ढोल की आवाज पर समस्त कबीले के कान खड़े हो जाते हैं। प्रत्येक कबीले के अनेक नृत्य ढोल के गिर्द घूमते हैं। प्रत्येक कबीले के लोकगीतों में ढोल की वार-वार प्रशंसा की गई है। कबीले की सम्मिलित आवाज ढोल की ताल पर ऊंची-नीची होती है। इसी की ताल पर नाचने वाले युवकों और युवतियों के पांव उठते और गिरते हैं।

यह वात स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में, जहां हिन्दू संस्कृति में अन्य संस्कृतियों को अपनाने तथा समाविष्ट करने की विलक्षण शक्ति के प्रमाण मिलते हैं, आदिवासी कबीलों की संस्कृति बहुत हद तक मृत्यु का ग्रास वनने से वच गई है। संसार के अनेक प्रदेशों में पश्चिमी सभ्यता के प्रहार ने अनेक आदि-वासियों की संस्कृतियों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक मिटा डाला है और इसके प्रतिकार स्वरूप वे उन्हें कुछ भी नहीं दे सकी। अतः देखने वालों ने वताया है कि वहां आदि-वासी एक प्रकार से पंगु हो गए हैं, क्योंकि अपनी संस्कृति रूपी टांगें गंवा कर वे पश्चिमी सभ्यता से लकड़ी की टांगें भी प्राप्त नहीं कर सके। परन्तु हिन्दू संस्कृति अपने देशवासियों को अत्यन्त स्नेह-पूर्वक आदिवासियों की झोंपड़ियों तक ले गई और कुछ इतनी नीति-

सत्ता से देवताओं का परिचय कराया गया कि वे आदिवासियों के देव परिवार में सम्मिलित हो गए। पारस्परिक आदान-प्रदान आवश्यक था। अतः जहां आदिवासियों के देवताओं में वृद्धि हुई वहां हिन्दुओं के देवताओं में आदि-वासियों के देवताओं का समावेश हो जाने के कारण इनकी देवश्रेणी का क्षेत्र भी बढ़ गया। यह ठीक है कि हिन्दू संस्कृति ने आदि-वासियों को अपना कर उन्हें अपने निम्न-वर्ग में स्थान दिया। परन्तु जहां तक आदि-वासियों का सम्बन्ध है उन्होंने इसे भी अपना अहो-भाग्य मान लिया। किसी-न-किसी रूप में आदि-वासियों के कबीले, जो हिन्दू संस्कृति से प्रभावित हुए अभीतक अपनी परम्पराओं को स्थिर रखते चले आए हैं।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंगरेजी शासन-काल में आदि-वासियों को सब से अधिक क्षति पहुँची, और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता का सम्पर्क उनके लिए अत्यन्त अहितकर सिद्ध हुआ। इस ह्रास को रोकने की सभी चेष्टाएँ असफल रही हैं। मैदानों से आये हुए साहूकार, कर-संग्रही तथा छोटे अफसर गिद्धों की भांति भोले-भाले तथा अत्यन्त ईमानदार वनवासियों पर झपटते चले गये। इसका यह परिणाम हुआ कि अनेक स्थानों पर वनवासियों के हाथ से उनकी भूमि भी छिन गई। साहूकार के पास बड़ा तेज हथियार था रुपया। बेचारा एक बार ऋण लेने के चक्कर में फंसा नहीं कि बस फिर वह अपनी भूमि देकर ही इस चक्कर से निकल सकता था। अंगरेजी ढंग की अदालतों का चक्कर अलग वनवासियों की आर्थिक लूट-खसोट में सहायक हुआ। आज अनेक स्थानों पर बेचारा वनवासी भूमिहीन मजदूर के रूप में हल चलाता है। उसकी असहाय दशा देखकर किसी भी सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति के सम्मुख एक दुखान्त चित्र उपस्थित हो उठता है। वनों के

लिए 'चल खेती' की परम्परा हानिकारक ठहराई गई। अतः आधुनिक सभ्यता वनवासियों को एक स्थान पर बस जाने तथा हल चला कर खेती करने को प्रेरित करती चली गई। वनवासी मजबूर थे। यद्यपि इस परिवर्तन के कारण उनकी जीवन पद्धति तथा सामाजिक बन्धन ढीले पड़ गये। अधुनिक शिक्षा का संदेश भी वनवासियों तक पहुँचा। परन्तु इस दिशा में आधुनिक सभ्यता कुछ अधिक सफल नहीं हो सकी। शिक्षा के साथ-साथ वनवासी बालक में हीनता का भाव उदय होने लगता है, क्योंकि एक तो मैदानों के विद्यार्थियों के साथ बैठते उसे यह अनुभव होता है कि वे उसे घृणापूर्ण समझ रहे हैं, और दूसरे स्वयं अध्यापक भी उनके इस मनोवैज्ञानिक संकट में किसी प्रकार सहायक होने के स्थान पर उलटा उनपर व्यंग्य कसना अधिकार समझता है। ईसाई पादरियों के प्रयत्नों द्वारा कुछ वनवासी ईसाई धर्म में सम्मिलित हो गये हैं। आसाम की 'खासी' जाति ने ईसाई धर्म के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा को भी अपनाने की चेष्टा की है। शिक्षा का स्वरूप कुछ ऐसा होना चाहिए कि वनवासी बालक अपनी संस्कृति से घृणा न करने लगे। उच्चतम शिक्षा के साथ-साथ उनके अन्दर उस क्षमता का विकास होना चाहिए जिसके द्वारा वे अपनी संस्कृति की सामूहिक शक्ति तथा प्रेरणा से एकदम वंचित न हो जांय। वैरियर एलविन, जिन्होंने वनवासियों की समस्या का गहरा अध्ययन किया है, एक स्थान पर लिखते हैं, 'वनवासियों की सभ्यता को आधुनिक सभ्यता में परिणत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। वन्य सभ्यता को छोड़ने से उनका क्षय ही होगा। वैरियर एलविन का विचार है कि वनवासियों को सामाजिक जीवन के निम्नतम स्तरों में गिरने से बचाना होगा और यह उसी समय सम्भव है जब कि उनके प्रति विशेष व्यवहार तथा उनकी सुरक्षा की विशेष

व्यवस्था की जाय।

आरम्भ में अंगरेजी सरकार ने वनवासियों के प्रति विशेष व्यवहार को कोई महत्व नहीं दिया था। परन्तु १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसका महत्व समझा जाने लगा। अतः वे सब प्रदेश, जहां इन जातियों की जन-संख्या अधिक थी, पृथक कर दिये गये और उन्हें साधारण कानून के आतंक से भी मुक्त कर दिया गया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि वहां केवल वही अधिकारी नियुक्त किये जांय जिन्हें इन जातियों के प्रति विशेष सहानुभूति हो या जो इन जातियों के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान रखते थे। इसके पश्चात् सन् १६३५ के 'भारतीय शासन विधान' की सीमा से आदि-वासी कबीलों के कुछ ऐसे प्रदेश 'बहिर्गत' अथवा 'आंशिक रूप में पृथक्' कर दिये गये और उन प्रान्तों की सरकारों पर उन प्रदेशों के शासन के लिए 'विशेष उत्तरदायित्व' रखा गया। इस पद्धति का केवल मात्र यही उद्देश्य था कि इन प्रदेशों को उस समय तक राजनीति के दलदल में न फंसने दिया जाय जब तक कि वे विशेषरूप से राजनीति के हथकंडे समझने के योग्य न हो जांय।

आसाम ही एक ऐसा स्थान है जहां सुरक्षा की नीति के कारण आदि-वासियों की संस्कृति के विकास के साधन जुटाये जा सके हैं। नागा कबीले से 'सिर के शिकार' की प्रथा को बन्द कराने में बड़ी सफलता हुई है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा तथा उन्नत कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

यदि कोई यह सोचता है कि वनवासियों के विकास को रोक कर उन्हें केवल अपनी वर्तमान अवस्था तक ही सीमित रखने की पद्धति द्वारा चिड़ियाघर के जीवों की भांति उनकी आदि-संस्कृति की प्रदर्शनी का प्रबन्ध किया जाना चाहिए तो वह सचमुच बड़ी भूल करता है।

अब जब कि हिन्दुस्तान बड़ी तेजी से स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रहा है, यह और भी आवश्यक हो गया है कि आदि-वासी की समस्या पर नये सिरे से विचार किया जाय। उन्हें आधुनिक जीवन के अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाय जिससे उनकी संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्त्वों की रक्षा हो सके। उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने की ओर सब से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। जब उन्नत कृषि के उपायों द्वारा उन की धरती पर अन्न-ही-अन्न हो जायगा तो उनकी संस्कृति में एक नयी परम्परा का आह्वान किया जायगा। धरती माता उस समय खुश होती है जब उसके पुत्र अन्न उगाने में परिश्रम और धैर्य दिखायें. इस नयी परम्परा की यह आवाज स्वतः आदि-वासियों के शत-शत लोकगीतों तथा नृत्यों में गूंज उठेगी।

नावागई के हुजरे में

सन् १९३५ पठान-प्रदेश। सैद रसूल के साथ मैं नावागई आ पहुँचा हूं। खासा ग्राम है। नाम भी तो सुन्दर है। 'नावागई' अर्थात् नई दुलहिन। काश, मेरे अपने ग्राम का भी यही नाम होता।

मैं थका-माँदा हूँ। और सैद रसूल तो पठान ठहरा। यह दूसरी बात है कि वह कालिज का विद्यार्थी है और ग्राम के दूसरे पठानों की तरह हट्टा-कट्टा नहीं है, पर है तो आखिर पठान-रक्त ही उस की नसों में। ऊपर से मैं भी थकावट ज़ाहिर नहीं होने देता। यों पैदल चलना मुझे पसन्द है। आज सुबह से यों ही शरीर शिथिल है। नावागई आना तय हो चुका था; दिल बोला—चलो!

'वह सामने हुजरा है।'

'ठीक।'

'यहीं हुजरा में रात बिताएंगे आज।'

'बहुत ठीक।'

हुजरा यानी अच्छे ख़ासे क़द का कच्चा कोठा। पक्का भी

होगा कहीं। हर एक ग्राम में एक हुजरा तो रहना ही चाहिए। अकसर ग्राम के हर एक मुहल्ले का अपना-अपना हुजरा होता है। इस नावागई ही में दूसरे हुजरे मौजूद हैं। रात के समय ग्राम के अविवाहित लड़के अपने-अपने हुजरों में आकर सोते हैं। पाँच-छः साल की आयु से लड़के हुजरों में सोना शुरू कर देते हैं। हर प्रकार के परिचित और अपरिचित मेहमानों और मुसाफ़िरों के लिए हुजरे का द्वार खुला रहना चाहिए, यह यहाँ की रीत है। ग्राम का 'मलिक'—मुखिया, मेहमानों की ख़ातिर-दारी हमेशा से अपने जिम्मे लेता आया है।

आतिथ्य में पठान बहुत रस लेते हैं; उन के लहू में शायद यह सदैव जीवित रहेगी। अभी-अभी हमें मलिक ने खाना खिलाया है।

खाना हमारे आगे रखते वक्त मलिक क्या कह रहा था—

'दस्तरख्वान ता में मुगोरा; तन्दी ता मेगोरा' यानी दस्तर-ख्वान की तरफ मत देख, मेरी पेशानी की तरफ़ देख!' मतलब यह कि मेज़बान को हमेशा नम्र रहना चाहिए, चाहे वह लाख अमीर हो, मेहमान के रूबरू उसे अपने दस्तरख्वान के लज़ीज़ खाने के बजाय इस से कहीं ज्यादा वह ख़ुशी ज़ाहिर करनी चाहिए जिस की कुछ-कुछ रौशनी आदमी की पेशानी पर ज़ाहिर हुआ करती है।' एक पुरानी कहावत थी।

'अच्छी कहावत है। सैद रसूल भाई इसके जवाब में आप ने क्या कहा था?'

'मैंने कहा था, 'प्याज़ दे वी, ख़ोपन्याज़ दे वी।' यानी 'मुझे चाहे प्याज़ ही दो, मगर न्याज़ (प्रेम) से दो!' यह भी एक पुरानी कहावत है।

हुजरा का एक ही बड़ा द्वार है। भीतर बहुत-सी चारपाइयाँ पड़ी हैं। इन्हीं पर रात के समय लड़के आ कर सोयेंगे। बाहर,

आँगन में शहतूतों के नीचे, कुछ वयोवृद्ध पठान बैठे हुक्का पी रहे हैं।

लो, भीतर लोग जमा होने लगे। संगीत की महफ़िल जमेगी। यह यहाँ की रीत है। हर रात यह महफ़िल जमती आई है, युग-युगान्तर से। दिन-भर के परिश्रम के बाद थके-मांदे किसान यहाँ दिल का आराम पाते हैं। उनकी रूहें यहाँ हलकी हो जाती हैं। जातीय उत्सवों और त्योहारों के दिनों में हुजरों के गीत-सम्मेलन जोवन पर आ जाते हैं।

'डूम' गायक ने रुबाब उठा ली है। वह गा रहा है। उसकी अंगुलियाँ संगीत की सोई देवी को जगा रही हैं।

'डूम' लोग प्रायः हज्जाम का काम करते हैं। फोड़ों की चीर-फाड़—जर्राही, सरंजाम देना भी इनका पुश्तैनी धन्दा है। पर यह सब पीछे। मूलतः वे पठानों के कौमी गवैये हैं।

'यह क्या गीत है, सैद रसूल ?'

'एक पुराना गीत है—

क़लम द-स्तो काग़ज़ द-स्पिनो !

यो सो मिसरे पखिनी स्ते यार तां ले गमा !'

यानी—

'सोने की क़लम है और चाँदी का काग़ज़ है! लहू से लथ-पथ चन्द गीत महबूब के पास भेज रही हूँ !!'

पठानों के गीतों में प्रेम के मीठे तरानों की कमी नहीं; विरह के स्वर भी उन की प्रतिभा को छू गये हैं, बार-बार; और फिर इन गीतों के शब्द लोक-मानस से पैदा हुए हैं, और लोक-मानस में ही इन्हें अमर-स्थान प्राप्त हुआ है।

'डूम' गायक के स्वरों में सरसता है; उपस्थित जनता मुग्ध हुई बैठी है। यों अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के लोग सभी जातियों में होते हैं। जो लोग अख़बार पढ़ते हैं, और पठानों के सम्बन्ध

में काली खबरें छपी देखते हैं, वे समझने लगते हैं, शायद सारे-के-सारे पठान खूनी हैं; डाकू हैं; पर बात असल में यह नहीं है। यह पठान जो मेरी बग़ल में बैठा है कितना सौम्य प्रतीत हो रहा है। और वह उस कोने की चारपाई पर बैठा युवक अपनी आँखों में एक दिव्य प्रकाश दिखा रहा है। नहीं, ये लोग कभी डाका नहीं डालेंगे। डाकू कोई और ही पठान होंगे, जिन्हें खूनी शेर की भाँति लहू की चाट पड़ गई हो; हर शेर भी तो, सुनता हूं, जंगल के पास के ग्राम में आ कर आदमियों की बस्ती पर धावा नहीं बोल दिया करता; आदमी के लहू की जब एक बार, दो बार, तीन बार, उसे चाट पड़ जाती है, तभी वह ज़बरदस्त इच्छा लिये—आदमी का खून पीने की, मांस खाने की कामना लिये, आदमी की बस्ती में घुसता है; हर एक शेर तो यों उत्पात नहीं मचाता। अवश्य ही वे पठान जो उत्पात मचाते हैं, किसी कारण से ही ऐसा करते हैं। नावागई के किसान पठानों में वे खतरनाक नमूने नज़र नहीं आयेंगे; और यही हाल सैंकड़ों ग्रामों का है।

यह क्या? मैं तो दूसरे ही विचार में पड़ गया था। आया हूं गीत सुनने और लिखने। अपने काम में गफ़लत तो ठीक नहीं।

'यह क्या गीत गाया जा रहा है, सैद रसूल भाई?'

'आप का ध्यान शायद इधर न था। एक-दो गीत तो गाए भी जा चुके हैं। घबराइये नहीं; मैंने उन्हें लिख लिया है। सुनिये, हाल का गीत है—

वार दे तेर शो उग्रड़ा गुला!
ब्याव बौरा व फ़रियाद शो तंदे वोवई!!'

यानी—

'अरे वसन्त के फूल! तेरी वारी गुज़र गई!
अब भौंरा फ़रियाद करेगा और पछतायेगा!'

मैंने अपने मित्र की मार्फ़त गायक से एक आध वीर रस का गीत गाने की बात कहलाई है। वह मान गया है। गीत है—

तप जाँगू के जाड़ा माँ!
स्ता मलगरी ब ता दवीज़ न गणी!

यानी—

'ऐ मेरे बेटे! झूले में रो मत!
वरना तेरे हम-उम्र तुझे बुज़दिल समझेंगे!'

यह हमारे यहाँ माताएँ लोरियों में भी गाती हैं। इस गीत पर हमारे यहाँ हर आदमी को एक ख़ास नाज़ है।

फिर एक दूसरा गीत है—

नन दे बार दई ख़ोबुना ज़ुकड़े!
सबा बार दई द मैदान ब गटी!!

यानी—

'(ऐ मेरे बेटे!) आज तेरी सोने की बारी है! कल तेरे सामने मैदान सर करने की बारी आयेगी।' यह भी लोरी में शामिल हो चुका है, कभी का।

नावागई की यह रात मेरे हृदय में सदा ताज़ा रहेगी। तीस-चालीस के क़रीब तो अच्छे 'लंडई' गीत ही सैद रसूल ने मेरे लिए ख़ूब सतर्क रह कर लिख लिये हैं। चन्द 'लोबा' गीत भी और चन्द 'चारबैते' भी बाक़ी बहुत-से गीत, जो यहाँ गाये गए हैं, हमारे पास पहले ही मौजूद हैं।

रात बहुत चली गई है।

धीरे-धीरे महफ़िल बरख़ास्त हुई। हम भी निद्रा देवी की बाट जोह रहे हैं। रात तो आराम के लिए बनाई गई है, मैं सोच रहा हूं, नींद भी ज़रूरी है। वाह, यह ख्याल भी अब आया है, जब कि अपना स्वार्थ पूर्ण हो चुका है। तब यह ख्याल क्यों न आया, जब मैं कभी गायक की ओर निहारता था, सतर्क हो कर,

और फिर यह भी देखता जाता था कि सैद रसूल की क़लम चल रही है या रुकी है ?

× × ×

भोर हुआ, हम नावागई से विदा हो रहे हैं। पीछे मुड़ गये हैं। 'यहाँ कभी फिर भी आयेंगे ?'—सैद रसूल भाई कह रहा है। 'बहुत ठीक !' मैं कह रहा हूं।

हम पैदल चल रहे हैं।

× × ×

पर आज तक तो दुबारा वहाँ जा नहीं सके।

ओ नावागई के हुजरे ! न सही, यदि मैं तेरे यहाँ दोबारा न भी आ सकूँ ! तेरा चित्र तो मेरे हृदय-पटल पर सदा क़ायम रहेगा और तेरे 'मलिक'—मुखिया के वे शब्द 'मेरे दस्तरख्वान की ओर मत देख; मेरी पेशानी की तरफ देख' मेरे अन्तस्तल में सदा गूँजा करेंगे।
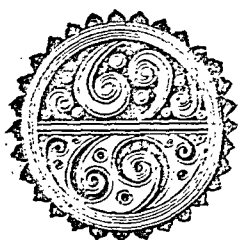
नेपाली-कवि भानुभक्त

पूरे एक सौ पंद्रह वर्ष पहले। सन् १८३३ की बात है। वसन्त के दिन थे। सोई हुई प्रकृति जाग उठी थी। खिलते हुए फूल कह रहे थे--'वसन्त आया, वसन्त आया।' नेपाल की उपत्यका में एक बूढ़ा घसियारा, जो अपने जीवन में ऐसे कितने ही वसन्त मना चुका था, अपने थके हुए हाथों से धीरे-धीरे घास काट रहा था। बग़ल से ही एक झरना बच्चों की तरह खेलता-कूदता, मचलता, नाचता-गाता वह रहा था। घसियारा घास काटता जाता और बीच-बीच में झरने के स्वर-में-स्वर मिला कर अपनी बूढ़ी आवाज़ से कुछ गाता जाता था।

थोड़ी दूरी पर, झरने के किनारे, एक युवक सो रहा था। आँख खुलने पर उसने पके हुए आम-से घसियारे को घास काटते और आनन्द मनाते देखा, तो वह उसके समीप जाकर बोला, 'सुनाओ, भई घसियारे, क्या हाल है तुम्हारा?'

घसियारा कहने लगा, 'क्या पूछते हो मुझ ग़रीब का हाल? मैं हूँ ही किस क़ाबिल? रूखा-सूखा जैसा भी मिल जाता है, उसी से इस पापी पेट की आग बुझा लेता हूँ।'

युवक ने पूछा, 'घर में और कौन-कौन हैं? कोई लड़का नहीं है क्या, जो इस बुढ़ापे में तुम्हारा हाथ बँटा सके?'

यह सुन कर घसियारे के मुखमंडल पर कुछ चमक-सी आ गई। वह बोला, 'घर में चार प्राणी हैं—औरत, दो छोटे-छोटे बालक और चौथा खुद मैं। सब को मैं ही खिलाता हूँ, यह बात मैं नहीं मानता; सभी का अपना-अपना भाग्य है; पर वह अपना जलवा दिखाता रहता है मेरी इस खुरपी में से ही।'

कदाचित् युवक को घसियारे की सीधी-सादी, पर अनुभवपूर्ण, बातों में रस आने लगा। 'एक-आध क्षण चुप रह कर उसने फिर प्रश्न किया—'हाँ, तो कुछ जमा भी करते हो, या जो कमाया, बस खा डाला?'

खुरपी को जमीन पर टिकाते हुए घसियारे ने कहना आरम्भ किया, 'जमा करने की बात भी क्या पूछी! इतनी मेरी कमाई ही क्या है, जिसे मैं जमा करूँ। और करूँ भी तो किसके लिए? मेहनत से कमाया हुआ धन, कमाने वाले की मौत के बाद, दूसरों की मौज का सामान बनता है, और मौज करने वाले भले आदमी यह कभी सोचते तक नहीं कि इसके लिए किसी ने खून-पसीना एक किया होगा। पैसा-पैसा जोड़ कर मैंने थोड़ा-सा धन अवश्य जोड़ा था, उससे मैंने एक कुआँ[1] बनवा दिया है। ज्यादा नहीं तो सौ-दो-सौ वर्ष तक ही सही, जब तक यह कुआँ रहेगा, पानी पीने वालों को मेरी याद दिलाता रहेगा।'

बूढ़े घसियारे से बात करने वाला युवक ही आगे चल कर 'कवि भानुभक्त' के रूप में नेपाली-भाषा-भाषी जनता के सम्मुख आया।

---

[1] बनारस में एक पिसनहारी का कुआँ है, जिसके सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी ने एक कहानी भी लिखी है।

उपर्युक्त घटना का उल्लेख करते हुए भानुभक्त ने निम्नलिखित कविता लिखी है—

मर् जन्म घाँस् तिरमन् दिइ धन कमायो ;
नाम क्यै रहोस् पछि भनेर कुवा खुनायो ।
घाँसी दरिद्रि घर को तर बुद्धि कस्तो ;
मो भानुभक्त धनि भै कन आज यस्तो ॥१॥
मेरा इनार न त सत्तल पाटि क्यै छन् ;
जेधन् र चीज हरु छन् घर भित्र नै छन् ।
तेस घाँसीले कसरी आज दिये छ अर्ती ;
धिक्कार हो मकन वस्तु न राखि कीर्ति ॥२॥

'जीवन-भर घास खोद-खोदकर घसियारे ने धन कमाया और मरने के बाद नाम रहे, यह सोचकर उसने कुआँ खुदवाया। घर का दरिद्र है यह घसियारा ; पर कितनी कमाल की है उसकी बुद्धि। मैं भानुभक्त धनी अवश्य हूं ; पर आज कहीं गरीब पाता हूँ अपने को इस घसियारे से भी।

'आह ! न मैंने कोई कुआँ खुदवाया और न कोई सराय ही बनवाई। जिस घर को मैं अपना समझे बैठा हूँ, वह है सब घर वालों के अधिकार में। अपनी इच्छा से मैं उसे किसी भी भले काम में नहीं लगा पाया। कैसी शिक्षा दी है मुझे आज इस घसियारे ने। धिक्कार है, धिक्कार है, मेरे इस कीर्तिहीन जीवन पर धिक्कार है।'

× × ×

नेपाल की राजधानी काठमण्डू के पश्चिम 'तुनहूँ' नामक एक ज़िले के 'रमघा' नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-परिवार में सन् १८११ में नेपाली भाषा के आदिकवि भानुभक्त का जन्म हुआ था। पठन-पाठन के साथ-साथ यह ब्राह्मण-परिवार खेतीबारी भी करता था। भानुभक्त के पिता धनंजय का झुकाव कदा-

चित् कृषि की ओर ही अधिक रहा होगा। भानुभक्त के पितामह 'श्रीकृष्ण' काफ़ी वृद्ध थे और अपना सारा समय पठन-पाठन में ही लगाते थे। उनकी सरपरस्ती में भानुभक्त की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। अठारह वर्ष की आयुपर्यन्त वे संस्कृत पढ़ते रहे। उन दिनों नेपाल में संस्कृत के सामने नेपाल भाषा[1] का स्थान बिलकुल गौण समझा जाता था। खासकर पंडित-मंडली तो यही समझती थी कि यह एक गँवारू भाषा है। पढ़े-लिखे लोग कभी भूल कर भी यह न सोचते थे कि जब वे स्वयं अपनी मातृ-भाषा में कुछ न लिखेंगे, तो उसका साहित्य आखिर आयेगा कहाँ से?

भानुभक्त अपनी मातृभाषा नेपाली के एक तपस्वी सेवक थे। उनके हृदय में रह-रह कर नेपाली-साहित्य-निर्माण की लहरें नाचा करती थीं। उन दिनों नेपाल में संस्कृत की सुविख्यात पुस्तक 'अध्यात्म रामायण' का बहुत प्रचार था। उसे जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने इसका नेपाली-पद्यानुवाद करना आरम्भ किया। बालकाण्ड का अनुवाद उन्होंने सन् १८४० में ही कर डाला था; पर इसके पश्चात् कई एक कारणों से कई वर्षों तक वे इस कार्य में हाथ नहीं लगा सके। इसके बाद सन् १८५१ में उन्होंने अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा तथा सुन्दरकाण्ड का अनुवाद किया। सन् १८५२ में युद्ध और उत्तरकाण्ड का भी अनुवाद हो गया। इस प्रकार रामायण का अनुवाद-कार्य शेष हुआ। अनुवाद की भाषा प्रौढ़ और सरल है। उसमें कवि भानुभक्त का अपना व्यक्तित्व-विशेष नहीं दीखता। और यह है

---

१ नेपाली भाषा का मौलिक तथा आरम्भिक नाम गोर्खाली है। इधर कई वर्षों से इस भाषा का नवीन नामकरण हुआ है। दार्जिलिंग के नेपाली-साहित्य-सम्मेलन ने इस नये नाम के प्रचार में काफी यश प्राप्त किया है।

भी असम्भव, क्योंकि भानुभक्त ने वहाँ सफल अनुवादक होने की ही चेष्टा की है। कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि के या तुलसीदास के राम, सीता, लक्ष्मण तथा अन्य पात्र उनके अपने पात्र थे; और उनके चरित्र चित्रण में अपने व्यक्तित्व की छाप है। इधर भानुभक्त की नेपाली रामायण[1] के पात्र अध्यात्म रामायण के पात्र हैं। हाँ, अपनी इस कृति से कवि ने पंडित-मंडली को यह ज़रूर दिखा दिया कि नेपाली भाषा में भी संस्कृत छन्दों में ही श्रुति-मधुर तथा साहित्यपूर्ण रचना की जा सकती है।

कवि भानुभक्त की सभी रचनाओं की अभी पूरी खोज नहीं हो पाई है। निकट-भविष्य के साहित्यान्वेषक को कदाचित भानुभक्त की कितनी ही मौलिक कृतियाँ भी मिलेंगी। यहाँ उनकी कविता के कुछ फुटकर नमूने ही दिये जा रहे हैं।

पहली बार काठमण्डू के उत्तर में बालाजी नामक स्थानका नयनाभिराम सौंदर्य देखकर भानुभक्त का हृदय मस्त हो उठा। निम्न-लिखित पद्यों में उसी मस्ती की कुछ झलक मिलेगी —

यहां बसेर कविता यदि गर्न पाऊँ,
यस् देखी सोख अस थोक म के चिताऊँ।
यस् माथि झन् असल सुन्दरी एक नचाऊँ,
खैंचेर इन्द्रकन स्वर्ग यहीं बनाऊँ।
यति दिन पछि मैले आज बालाजी देख्यां,
पृथिवीतल भरीमा स्वर्ग हो जानि लेख्यां।
वरि परि लहराका झूलि बस्न्या चरा छन्।
मधुर वचन बोली मन लिन्दा क्या सुरा छन्।

---

१ अभी थोड़े दिन हुए पुस्तक का सुन्दर संस्करण नेपाली साहित्य-सम्मेलन, दार्जिलिंग ने प्रवासी प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इसका कुछ भाग कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के नेपाली भाषा के बी० ए० के कोर्स में भी नियत है।

'यहां बैठकर यदि मुझे कविता करने का सुअवसर मिले, तो मेरे लिए और हो ही क्या सकता है इससे अधिक आनन्द का कारण।

इसके अलावा यदि यहाँ मैं किसी सुन्दरी की नृत्यकला का प्रदर्शन कर सकूँ, तो देवराज इन्द्र भी यहीं खिंचे आवें, और बस, बन जाय यहीं स्वर्ग।

इतने दिनों के बाद आज मैं कर सका हूँ बालाजी का शुभ दर्शन। 'बालाजी' क्या है, भू-स्वर्ग है। हाँ, हाँ, इसीलिए तो मैं लिखने बैठा हूं यह कविता।

यहाँ-वहाँ लताओं पर झूल रहे हैं पक्षीगण, और देखो तो सही, कितने बहादुर हैं ये पक्षीगण मन चुराने में।'

काठमण्डू के लिए कवि भानुभक्त ने अपनी कविताओं में 'कान्तिपुरी' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी 'कान्तिपुरी' शीर्षक कविता सचमुच काठमण्डू की एक सजीव तसवीर है। अपनी सुन्दर जन्मभूमि की राजधानी पर रीझ कर ही कवि इस रचना में इतना रस ला पाया है—

चपला अबलाहरु एक सुरमा;
गुनकेसरी को, फुल ली शिरमा;
हिंडन्या सखि लो कन ओरि परी;
अमरावति कान्तिपुरी नगरी ॥१॥
यति छन् भनि गन्नु कहां धनियां
खुशि छन् मनमा बहुतै दुनियां।
जनकी यसरी सुखकी सगरी;
अलकापुरी कान्तिपुरी नगरी।
कहिंभोट र लन्दन चीन सरी;
कहिं काल् भरि गल्लि छ दिल्ली सरी।
लखनौ पटना मद्रास सरी

अलकापुरी कान्तिपुरी नगरी ॥३॥
तरवार कटार खुंडा खुकुरी;
पिस्तौल र बन्दुक सम्म भिरी।
अति सूर-वीर भरि नगरी,
छ त कुन सरि कान्तिपुरी नगरी ॥४॥
रिस राग कपट छल छैन जहां;
तब धर्म कती छ कती छ यहां।
पशुका पति छन् रखवारि गरी;
शिवकी पुरी कान्तिपुरी नगरी ॥५॥

'यहाँ चंचल रमणियाँ एक ही ढंग से गुणकेसरी फूलों से अपना शृंगार करके टोलियाँ बना-बनाकर चलती फिरती हैं। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

कितने धनवान हैं यहां; कौन गिन सकता है उन्हें। यहां की दुनिया मन-ही-मन खुशी से फूली नहीं समाती। सचमुच यह प्रदेश लोक-सुखका सागर है। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

कहीं यह नगरी तिब्बत, लन्दन और चीनकी-सी प्रतीत होती है। यहाँ दिल्लीकी-सी गलियां भी हैं। लखनऊ, पटना और मदरास मानो यहीं आ बसे हैं। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

यहां सब ओर तलवार, कटार, खण्डा और खुकुरी के दर्शन होते हैं। शूर-वीरों की जन्मभूमि है यह। कान्तिपुरी नगरीकी-सी और कौनसी नगरी है?

क्रोध, राग, कपट और छलका यहां क्या काम। कितना धर्म होता है यहां? पशुपति (शिव) हैं यहाँ के रखवारे। कान्तिपुरी नगरी क्या है, शिवकी नगरी है।'

जिन स्थानों को कवि ने अपने जीवन में कभी नहीं देखा था

और जिनका गुण-गान उसने अकसर सुना था, उन सबकी कल्पना उसने अपनी जन्मभूमि की राजधानी काठमण्डू में करने की चेष्टा की है।

× × ×

किसी गिरधारी नामक 'भाट' के साथ जमीन के बारे में भानुभक्त को मुकद्मा लड़ना पड़ा था। अदालत में उन्होंने निम्न-लिखित कविता अपने बयान के रूप में पेश की थी—

स्वामिन यस् गिरधारिलें अति पिर्‌यो व्यर्थै गर्‌यो झेल् पनी ;
यस्‌का झेल उतार्न लाइ सजिलो यो हो व्यहोरा भनी।
स्वामिन्‌लाइ चढ़ाउना कन यहाँ यसै श्लोक् कविता गर्यां ;
मेरा श्लोक सुनि बक्‌सयोस् त झगरा छीनिन्छ पाऊ पर्‌यां ॥ १॥
सांचा हुन् जति लेखिया सब कुरा आफनु व्यहोरा दरी ;
ई कुरात अइन् सवाल रितले श्रेस्ता प्रमाण ले गरी।
साबित ता ठहरेन पो पनि भन्या यस्‌मा अइनमा जती ;
तो क्या को छ गुनाहगार बिर्ता राखूँन एकदाम रत्ती ॥२॥
यस भन्दा अरु पत्र पात्र छुन भोग छुन दर्सी छुन सही ;
ओला साचि कुरा कहानि पनि छुन मेरा सनद छुन कहीं।
गन्यां छैन सजुर गर्‌यां पनि भन्या कुट्टा गराई दिनू ;
सर्कार्‌मा इजहार दियां खुशि भई यो झेल कसोरी छिनू ॥३॥

'मुझे बहुत दुखी किया है इस गिरधारी ने, स्वामिन्! वृथा ही उसने मुझे ठगा, अब उलटा चालें चलता है। मेरी इस वाणी से उसके सब भेद खुल जायँगे। तभी तो मैं यह कविता लिख रहा हूँ, स्वामिन्! मेरे इन श्लोकों को आप सुनेंगे, तो इस मुकद्मे का फ़ैसला देते देर न लगेगी। अब मैं आपकी शरण में आया हूँ।

'मेरी ये सब बातें सत्य हैं। यदि ऐसा न हो, तो मुझ जैसे गुनहगार के लिए क़ानून में जिस दण्ड का विधान हो, वह सब

मुझे दीजिए।

'मेरे पास अपनी बात के लिखित प्रमाण तो हैं ही, गवाह भी हैं। जिस जगह का झगड़ा है, उस पर मेरा कब्ज़ा है, और यह मेरी मिलकीयत है, इसका प्रमाण मैं दूँगा। बस, यही मेरा आखिरी उज्र है, स्वामिन्! गिरधारी के फ़रेब की कलई खोलने के लिए मैं यह बयान सरकार की सेवा में पेश कर रहा हूँ।'

अदालत तो आखिर अदालत ही ठहरी। भानुभक्त के इस मुकद्दमे का फ़ैसला जल्द न हुआ। तब दुखी होकर कवि ने निम्न-लिखित रचना की—

बिन्ती डिट्ठा बिचारी सितम कति गर्नुं चुप रहन्छन् न बोली;
बोल्छन् त ख्याल गर्‍या भैं अति पछि दिन् दिन्
मन्दछन भोली-भोली।
की ता सक्दीन भन्नू कि तब छिनी दिनू क्यान
भन्दछन ई भोली;
भोली-भोली हुन्दैमा सब धर बिति गो बक्स्योस झोली।

'कितनी विनय करूँ मैं इन अदालती हाकिमों से? वे चुपचाप सब बात सुन लेते हैं, पर उत्तर में कुछ नहीं बोलते। कुछ बोलते भी हैं, तो महज टालते ही हैं। हर रोज़ 'कल' 'कल' कहे जाते हैं, या तो वे कह दें, 'न हो सकेगा हमसे यह फ़ैसला', या तुरन्त फ़ैसला कर दें। क्यों वे 'कल', 'कल' कहकर मुझे टालते जाते हैं? 'कल', 'कल' सुनते-सुनते मेरा सब कुछ खर्च हो गया—घर-बार बिक गया; पर वह 'कल' न आया। बस, अब मुझे एक भिक्षुक की झोली चाहिए, मेरे भिक्षुक बनने में अब देर नहीं।'

× × ×

सन् १८४६ में कवि भानुभक्त मालगुजारी के महकमे में सरकारी नौकर थे। वे बहुत भोलेभाले व्यक्ति थे। सन् १८५१ में किसी कर्मचारी ने उन पर झूठा इलज़ाम लगाया, और इसी

कारण उन्हें पांच मास का कारावास मिला। जेल के कष्ट कवि को अधिक दुखी न कर सके। मच्छर काटते थे, और पिस्सू और खटमल तो गज़ब ही ढाते थे; पर वे इसे कवि की दृष्टि से देखते थे। इसका कुछ आभास उनकी एक कविता में मिलता है। इसे उन्होंने श्रीमान् कृष्णबहादुर जंगराणा को, जो उस समय नेपाल के कमाण्डर-इन-चीफ़ थे और जो भानुभक्त की कवित्व-शक्ति और मातृभाषा-भक्ति के क़ायल थे, लिखी थी—

रोज् रोज् दर्शन पाउँछू चरणको ताप छैन मन मा कछू;
रात भर नाच पनि हेर्छु खर्च न गरी ठुला चयनमा मछू।
लामखुट्टे उपिजा उडुस् इ संगि छन् कै लहडमा बसी;
लामखुट्टे हरु गाउँछन् इ उपियाँ नच्छन् म हेर्छु बसी।

'अपने स्वामी के चरणों का मैं हर रोज़ ही दर्शन पाता हूँ। मेरे मन में इस जेल-जीवनका ज़रा भी दुःख नहीं है। बिना कुछ खर्च किये ही मैं रात-भर नाच देखता हूँ और खूब मज़े से हूँ मैं यहां। मच्छर, पिस्सू और खटमल मेरे साथी हैं। मच्छर गाते हैं और पिस्सू नाचते हैं; और मैं उसे देख-सुनकर यहां बैठा-बैठा आनन्द मनाता हूं।

× × ×

प्राचीन कवि-प्रणाली के अनुसार कवि भानुभक्त ने अपने सम्बन्ध भी कुछ पद्य लिखे हैं। एक नमूना लीजिए—

पहाड़को अति बेस देश् तनहूं मा
श्रीकृष्ण ब्रह्मण थिया;
खप् उच्चाकुल आर्यवंशी हुन गै
सत्कर्म मा मन दिया।
विद्या मा पनि जो धुरन्धर भई
शिक्षा मलाई दिया;
इनको नाति भानुभक्त हूं

यो जानि चिन्ही लिया ।

'अति मनोहर पार्वत्य प्रदेश नेपाल के 'तनहुं' जिला में श्रीकृष्ण नामक ब्राह्मण थे। वे कुलीन आर्यवंशी और सत्कर्मी प्राणी थे। विद्या में वे धुरन्धर थे और मेरे गुरु थे। मैं उन्हीं का पौत्र भानुभक्त हूं। बस, यही मेरा परिचय है।'

नेपाली साहित्यके जिस बीजको नेपालके आदिकवि भानुभक्त ने रोपा था, आज वह फला-फूला ही चाहता है। तभी तो आज हम नेपाल में कविवर लेखनाथ और श्रीधरनीधर शर्मा जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पाते हैं।

इसमेंकोई सन्देह नहीं कि पिछले दस-बीस वर्षों से, जब से नेपाली साहित्य काननमें वसन्त-समीरका आगमन होने लगा है, नेपाली भाषा-भाषी कवि भानुभक्त की चर्चा करने लगे हैं; पर कोई भी नेपाली साहित्य-प्रेमी सज्जन भानुभक्त की नेपाली रामायण से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता, और यह भी सम्भावना नहीं की जा सकती कि भानुभक्त ने अच्छी मौलिक रचनाएं की ही नहीं। जो कवि 'कान्तिपुरी' शीर्षक-सी कविता लिख सकता है, उसने शायद ऐसी-ऐसी कितनी ही रचनायें की होंगी; पर किसी ने उन्हें सम्हाल कर नहीं रखा। आज हम कवि भानुभक्त के प्रति इतने श्रद्धालु होते हुए भी उनकी सारी कविताओं का रसास्वादन नहीं कर सकते। मनुष्य में नई चीज़ लिखने की जितनी भूख-प्यास होती है, यदि उतनी उत्सुकता पुरानी चीजों को सम्हाल कर रखने की होती, तो इस प्रकार के दुःखान्त दृष्टान्त देखने को नहीं मिलते। हम नेपाली कवियों तथा साहित्य-सेवियों से यह अनुरोध किये विना नहीं रह सकते कि वे अपने इस कविरत्न की रचनाओं की खोज के लिए भरपूर प्रयत्न करें।

तीन पुस्तकें

पहले-पहल जब अंगरेजी विद्वान् टॉड ने राजस्थान के इतिहास का सजीव चित्र अंकित किया था, तभी शायद विश्व-साहित्य का ध्यान राजस्थान की ओर उठा था। फिर 'चन्दबरदाई' रचित 'पृथिवीराज-रासो' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। फिर लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया के दौरान में सर जार्ज ग्रीयर्सन ने सन् १९०८ में बड़े खेदपूर्वक लिखा कि राजस्थान का लोक-साहित्य अनुसंधान कर्त्ताओं की राह ताक रहा है; चारण-जातिके कवियोंकी कृतियों के उद्धार की ओर उन्होंने बहुत ज़ोरदार शब्दों में विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। फिर फरवरी ३, १९१५ को स्व० सर आशुतोष मुकर्जी ने एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के सम्मुख वक्तृता देते हुए राजस्थान के पुरातन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक गीतों के बहुमूल्य महत्त्व पर प्रकाश डाला।

इधर स्वयं राजस्थान में साहित्यिक जागृति हो रही है। श्री ठाकुर रामसिंह एम० ए०, श्री सूर्यकरण पारीक एम० ए० तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए० की सम्मिलित कोशिशोंसे इस दिशा में गौरवपूर्ण कार्य हुआ है।

'ढोला मारूरा दूहा' राजस्थान का एक अमर लोक-गीत है। ढोला प्रेमी है और मरवण उसकी सुन्दरी प्रेसिका। जो स्थान पंजाब में हीर और राँझा के प्रीतिकाव्यको प्राप्त है,वही राजस्थान में ढोला और मरवण के गीतों को है। यों 'ढोला' शब्द प्रेमीका पर्यायवाची बनकर पंजाबी-लोकगीत की रग-रग में समाया हुआ है ; पंजाब की 'लेंहदी' नामक उपभाषा का एक विशेष प्रकारका गीत 'ढोला' कहलाता है। कुछ लोग ढोला और मरवण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। पुस्तक में काफी विचारपूर्वक इस प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है।

श्रीगौरीशंकर हीराचन्द ओझा के कथनानुसार इस पुस्तक के दोहों की उम्र ५०० वर्ष के लगभग है। ओझाजी ने अपने प्रवचन में लिखा है—'भाषा के इतिहास के अध्ययन के लिए यह काव्य उपयोगी सिद्ध होगा। कविता की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। काव्य का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति है, परन्तु घटनाओं एवं वर्णनों में कल्पना का बहुत बड़ा पुट है, जो ऐसी रचनाओं में प्रायः स्वाभाविक है।......सम्पादकों ने प्रायः सोलह-सत्रह हस्त-लिखित प्रतियां एकत्रकर इसका सम्पादन किया है...।'

एक लोकप्रिय सोरठा, जो हर राजस्थानी की जबान पर आ जाया करता है, न-जाने कबसे इस काव्यके प्रेमियों केनाम अमर करता चला आ रहा है ; 'सोरिठयों दूहो भलो, भलि मरवण री बात, जोबन छाई धन भली, ताराँ छाई रात !" (दोहों में भला है सोरठिया दूहा—सोरठा, कथाओं में भली है ढोला और मरवण की कथा, स्त्री वह भली जिसपर यौवन छा रहा हो और भली तारों से छाई हुई रात।)

नन्हें-नन्हें प्रेम-गीतोंके अलावा काफी लम्बे गीत भी राजस्थानी लोक-साहित्यमें मिलते हैं; पर ढोला और मरवणको लेकर जिस

काव्य की सृष्टि हुई है, वह अपना एक विशाल रूप रखता है।

पुरातन राजस्थान के चित्रकारों ने अलग इस कथाके विभिन्न प्रसंगों को अपनी तूलिका द्वारा अभिनन्दित किया है। जोधपुर के सरदार म्यूज़ियम में इस कथा के १२१ चित्र सुरक्षित हैं; उन्हींमें से तीन तिरंगे चित्र इस पुस्तक में दिये गए हैं। पहला चित्र जिसमें ढोला और मरवण ऊंट पर सवार चले जा रहे हैं बहुत सुन्दर है।

ढोला का पहला नाम साल्हकुमार था। मरवणका पूरा नाम था मारवणी। उनकी प्रेम-कथा का संक्षेप रूप इस प्रकार है। संवत् १००० के लगभग ग्वालियर की सीमावर्त्ती कछवाहा राजपूतों की नरवर नामक राजधानी में राजा नल के घर में ढोला का जन्म हुआ। मारवणी भी एक राजकन्या थी; उसका पिता पूगल में राज्य करता था, जाति से वह पँवार राजपूत था और उसका नाम था पिंगल। अकाल के दिनों में एक बार पिंगल परिवार-सहित नल के राज्य में अतिथि हुआ। पिंगल की रानी ढोला के बाल-रूप पर मुग्ध हो गई और हठपूर्वक उसने अपने पति को मारवणी का विवाह ढोला से कर देने के लिए मजबूर कर दिया। मारवणी की आयु उस समय केवल डेढ़ वर्ष की थी। और ढोला भी तीन वर्ष से बड़ा न था। पिंगल अपने सुदूर प्रदेश को लौट गया, मारवणी अपने पिता के साथ ही रही। जब ढोला बड़ा हुआ, तो उसके पिता ने इस विचार से कि पूगल बहुत दूर है और वहां का विवाह सम्बन्ध एक झंझट है, अपने पुत्र का विवाह मालवा की शाहजादी मालवणी से कर दिया। ढोला को यह न बताया गया कि पहले उसका विवाह हो चुका था। उधर मारवणी बड़ी हुई, तो उसके पिता पिंगल ने अपने जामाता ढोला को कई संदेश भेजे; पर ढोला की पहली स्त्री मालवणी होशियारी से सब

संदेश बीच में ही रोकती रही। फिर पिंगल ने कुछ गायकों-द्वारा अपना संदेश भेजा। ये गायक एक बार ढोला के महल के नीचे रात-भर मारवणी का विरह-गीत मांड राग के करुण स्वरों में गाते रहे। ढोला पर इस गीत का बहुत प्रभाव पड़ा। सुबह को उसने गायकों को अपने पास बुला कर पूछ-ताछ की। ढोला ने निश्चय कर लिया कि वह मारवणी को लिवा लायेगा; पर मालवणी ने पूरे एक वर्ष तक उसे रोक रखा। फिर एक दिन ढोला का दिल उछल पड़ा, वह ऊँट पर सवार हुआ और चल दिया। पूगल में पन्द्रह दिन रह कर वह मारवणी को साथ लेकर अपने देश की ओर लौट पड़ा। मार्ग में मारवाणी को एक साँप ने डस लिया, पर एक सँपेरे योगी ने मारवाणी को जिलाकर ढोला को विपदा से मुक्त कर दिया। फिर दूसरी कठिनाई सम्मुख आ गई। अमर नामक एक सरदार, जो मारवणी पर मुग्ध हो गया था, फौज लेकर राह-चलते ढोला से आ मिला। उसने ढोला को अपने साथ शराब पीने का निमन्त्रण दिया, जो ढोला ने स्वीकार कर लिया। अमर के साथ एक गायिका भी आ रही थी; वह मारवाणी के नैहर की रहने वाली थी, और उसने मारवाणी को अमर की बुरी नीयत से ख़बरदार कर दिया। मारवणी ने एक चाल चली। पास बैठे ऊँट को उसने छड़ी से मारा। ऊँट को दौड़ते देख कर ढोला उसे पकड़ने के लिए चला। मारवणी भी दौड़ कर ढोला के पास चली गई, और उसने उससे सारी बात कह दी। झट से दोनों ऊँट पर सवार हो गये। ऊँट का एक पैर बँधा ही रह गया था; पर बहादुर ऊँट इतनी शीघ्र रफ्तार से भागा कि अमर से ढोला का पीछा करते न बना। दोनों प्रेमी नरवर पहुंच गये।

प्रस्तावना बहुत विद्वत्तापूर्वक लिखी गई है। लोकगीत के जन्म तथा विकास पर वैज्ञानिक ढंगसे चर्चा की गई है। भाषा-

सम्बन्धी अनुसन्धानात्मक सामग्री, जो इस प्रकार के ग्रन्थ में सदा सहायक होती है, प्रचुर मात्रा में दी गई हैं। मूल दोहों के नीचे साथ-साथ फुटनोट में अनुवाद रखे गये हैं। परिशिष्ट में विभिन्न रूपान्तर दिये गये हैं; ये रूपान्तर, जो अलग-अलग हस्तलिखित प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन हैं, पुस्तक को हद से ज्यादा भारी बनाते प्रतीत होते हैं। लगभग १०० पृष्ठ का शब्द-कोष भी जरा हलका किया जा सकता था। ढोला-मरवण की कथा पात्र-प्रधान है, घटना-प्रधान नहीं, राजस्थान का साहित्य इस काव्य द्वारा धन्य हुआ है।

'राजस्थान रा दूहा' श्री नरोत्तमदास स्वामी के स्वतन्त्र परिश्रम का फल है। उसके संग्रह-कार्य की उमर, जैसा कि उन्होंने भूमिका में बताया है, चौदह-पन्द्रह वर्ष के लगभग है। पुस्तक में आये दोहों की संख्या १२२७ है। कितने ही दोहे लोक-साहित्य के अमररत्न हैं। कुछ दोहे विशेष कवियों से लिए गये हैं। यह अभी प्रथम भाग है; इसके कई भाग और प्रकाशित होंगे, यह वायदा किया गया है।

संग्रह के सम्बन्ध में बताया गया है—'यह संग्रह लोगों से जबानी सुने हुए दूहों, मित्रों द्वारा संग्रह कर के भेजे हुए दूहों, प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों से संकलित किये हुए दूहों, एवं प्राचीन संग्रहों से चुने हुए दूहों को लेकर तैयार किया गया है।'

आरम्भ में श्रीगौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'प्रवचन' है, फिर प्रस्तावना है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्वार्द्ध (राजस्थानी भाषा और साहित्य का दिग्दर्शन), इसे लेखक ने स्वयं विद्वत्ता-पूर्वक लिखा है। (२) उत्तरार्द्ध, इसमें पुस्तक के दोहों को लेकर साहित्यिक विवेचना की गई है। इसमें श्रीरामनिवास हारीत ने लेखक के साथ सम्मिलित परिश्रम किया है।

दोहे नौ भागों में विभक्त किने गये हैं— १. विनय,

२. नीति, ३. वीर, ४. ऐतिहासिक और भौगोलिक, ५. हास्य और व्यंग्य, ६. प्रेम, ७. शृंगार, ८. शान्त, ९. प्रकीर्णक। मूल दोहों के नीचे फूटनोट में अनुवाद दिये गये हैं। अच्छा होता, यदि 'ढोला मारू रा दूहा' की भाँति प्रत्येक दोहे का पूरा अनुवाद दिया जाता। पुस्तक के परिशिष्ट में विशेष-विशेष बातों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं, जो दोहों के अध्ययन में बहुत सहायक हैं।

इस एक ही पुस्तक में समस्त राजस्थान का हृदय आ गया है। खास कर वीररस और शृंगार के दोहों का चुनाव सुन्दर बन पाया है। यों अन्य दोहों को भी अपने-अपने स्थान पर ठीक-ठीक बैठाने का यत्न किया गया है। बात असल में यह है कि इन दोहों के बीच में कड़ी दीवारें नहीं खींची जा सकतीं।

एक दोहे में कवि लुओं को सम्बोधित कर उठा है, 'हे लुओ! जब पृथ्वी पर वर्षाऋतु आ जायगी तो तुम कहां जाओगी?' दोहे की दूसरी पंक्ति में लुओं ने उत्तर दिया है, 'हम उस नववधू के हृदय में जाकर रहेंगी, जिसका पति बिछुड़ गया है।' सावन में मरुभूमि का चित्र देखिये—'हिरनियों के मन हरे हो गये, कृषकों के हृदय में उमंगें उत्पन्न हुईं, तृतीया का त्यौहार, रंगभरी तैयारियाँ—ये सब सावन साथ में लाया।' एक जगह एक वियोगिन 'कुरज' पक्षियों द्वारा अपने प्रीतम तक सन्देश भेजने की बात सोचती है; कुरजें कहती हैं, 'हम तो पक्षी हैं, मानव-भाषा में हम कैसे बोलेंगी? हमारे पंखों पर अपना सन्देश भले ही लिख दो।' पर यह बात कुरजें वियोगिन को कैसे समझा देती हैं? उससे वे किस भाषा में बोलती हैं? अकाल को भी इन दोहों में मानव-भाषा दी गई है; वह बतलाता है, 'मेरे पैर पूगल में हैं, धड़ कोटड़े में है, और भुजाएँ बाड़मेर में रहती हैं, घूमता-घामता बीकानेर भी पहुंचता

रहता हूँ, पर जेसलमेर में तो निश्चित् रूप से मिलूँगा।' एक दोहे में हम 'काचर' की लता को यह कहते पाते हैं, 'नौ बच्चे गोद में हैं, नौ अंगुली पकड़े हैं, और नौ ननिहाल जा रहे हैं। इच्छा करूँ तो और उत्पन्न कर सकती हूँ; पर अकाल पड़ जाय तो क्या खायँगे ?' एक स्थान पर भगवान से प्रार्थना की गई है, 'हे परमात्मा, हमें जगत सिंह के दरबार के कबूतर बनाना, जिससे पिछोले में पानी पियें और राजकीय कोठार में अन्न चुगते रहें।'—पिछोला, उदयपुर का खास तालाब है। वीररस के एक दोहे में ढोल को सम्बोधन किया गया है—'हे ढोल, तू बार-बार बज, मैं अपने स्वामी के प्रति सच्ची रहूँ। पाँच लोगों में मेरी प्रतिष्ठा रहे और सखियों में मेरा नाम रह जाय।' या—'मैंने विवाह के समय ही पति की परीक्षा कर ली थी। वह वर के जामे के भीतर कवच पहने था। अतः मैंने जान लिया कि पति साथ में थोड़ी आयु लिखा कर लाया है।' वीररस के अनेक दोहे हैं, जो पुराने राजस्थान को ला खड़ा करते हैं।

'ढोला मारु रा दूहा' और 'राजस्थान रा दूहा।'[1] से राजस्थान का मस्तक ऊँचा उठा है।

× × ×

---

१ ढोला मारू रा दूहा—(सचित्र) सम्पादक, श्रीरामसिंह, श्रीसूर्यकरण पारीक तथा श्रीनरोत्तमदास स्वामी; प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९३४); पृष्ठ १२+२१२+६६४; मूल्य ४) सजिल्द

राजस्थान रा दूहा—सम्पादक, श्री नरोत्तमदास स्वामी; प्रकाशक, नवयुग साहित्य-मन्दिर, दिल्ली (१९३५); पृष्ठ ११+२४८; मूल्य सजिल्द २)

यह ठीक है कि ग्राम और जनता के प्रति सहानुभूति का झुकाव होने के कारण 'ग्राम्य' शब्द 'अश्लील', गँवारू' और 'भद्दा' का पर्यायवाची बनने से बहुत हद तक बच गया है, और प्रगतिशील काव्य की निगाह में ग्रामीण शब्दों का प्रयोग अब 'काव्य-दोष' का अपराधी नहीं बनता, फिर भी जनता के गीत के लिए ग्राम्यगीत, या श्रीरामनरेश त्रिपाठी द्वारा प्रतिष्ठित 'ग्राम-गीत', शब्द का प्रयोग बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। हर्ष का विषय है कि सुयोग्य सम्पादकों ने 'लोक-गीत' शब्द को अपनाया है । गुजराती में इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है; हिन्दी में भी इसे स्थान मिलना चाहिए। ग्राम और नगर के भेद, जैसा कि श्रीसूर्यकरण पारीक ने 'हिन्दुस्तानी' में एक बार लिखा था, अर्वाचीन काल में बढ़े हैं। 'लोक-गीतों' को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उन के व्यापकत्व को कम करना है। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं, जितना सर्वसाधारण जनता का—'लोक' का। पंजाब, राजस्थान, गुजरात, युक्तप्रांत और बिहार के कितने ही पीढ़ी से चले आनेवाले गीतों ने ग्राम और नगर में समरूप से अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है—खास कर विवाह के गीत ग्राम और नगर के भेद में कभी नहीं बँटे; पुत्र-जन्म के उत्सव-गीतों का भी यही हाल है। इस दशा में लोक-गीत को ग्राम-गीत कहना हास्यस्पद जँचता है।

'गान मनुष्य-हृदय के लिए स्वाभाविक है। सुख में हो या दुःख में, मनुष्य गाये बिना नहीं रह सकता। सुख में गाकर उत्साहित होता है, दुःख में गाकर दुःख को भूलता है।'—इन शब्दों के साथ इस पुस्तक की प्रस्तावना शुरू हुई है। लोक-गीत को केवल काव्य की दृष्टि से ही नहीं देखा गया लोक-जीवन के चित्र के रूप में भी इस की महत्ता पहचानी गई है।

गीत के साथ प्रायः उस का हिन्दी अनुवाद दिया गया है ।

अनुवाद की सहायता से मूल-भाषा का रसास्वादन कर सकने की सुविधा हो गई है। कहीं-कहीं अनुवाद में अधिक मेहनत नहीं की गई, और गम्भीर पाठक अपनी कठिनाई दूर न हुई देख कर कुछ घबराता है, भाषा के साथ उस का परिचय नहीं हो पाता। प्रत्येक खण्ड के अंत में दिये गए कठिन राजस्थानी शब्दों के कोष से भी हर कठिनाई के हल होने की आशा नहीं की जा सकती। अनुवाद की पद्धति को वैज्ञानिक बनाने की आवश्यकता है।

गीतों का चुनाव बहुत सुन्दर है। प्रथम गीत में मेवाड़ की नारी उदयपुर के 'पीछोला' नामक प्रसिद्ध सरोवर के प्रति अपने चिर-संचित प्रेम का परिचय देती है, 'मेरा देश मुझे प्यारा लगता है। हे प्रिय, विदेश कैसे जाया जाय ? ऊपर हैं शौर्य, त्याग, देश-प्रेम और प्रतिमा-स्वरूप हमारे राणाजी के गर्वोन्नत गगनचुम्बी गवाक्ष' और नीचे है हमारा लहराता हुआ पीछोला सरोवर।' गीत की मूल पंक्ति 'ऊँचा-ऊँचा राणे जी रा गोखड़ा ए लो' का वैज्ञानिक अनुवाद 'ऊपर हैं शौर्य, त्याग और देश-प्रेम के प्रतिमा-स्वरूप हमारे राणा जी के गर्वोन्नत गगनचुम्बी गवाक्ष' कभी नहीं हो सकता। 'सरवर पाणीड़ेने मैं गई, एलो, भीजे म्हारी सालूड़े री कोर, बाला जो' का अनुवाद किया गया है, 'मैं पानी भरने सरोवर को गई। मेरी ओढ़नी का छोर भींग रहा है—जल से या देश-प्रेम से !' यहाँ 'जल से या देश-प्रेम से' को अनुवाद के बीच डालने से अनुवाद की वैज्ञानिकता कैसे हो गई है।

गीत नम्बर २३ में 'लूँहारियो लै' नामक बार-बार आने-वाले तुक का अनुवाद ही नहीं किया गया। 'जाओ मरवो ले' के सम्बन्ध में भी बस यही बतलाया गया है कि इस का प्रयोग गीत की गति में तीव्रता लाने के लिए हुआ है। इस का शब्दार्थ

नहीं बताया गया। गीत नम्बर ५६ का अनुवाद दिया ही नहीं गया। बस, यही कहा गया है, 'उपरोक्त गीत का अर्थ स्पष्ट है।'

फिर भी बिना संकोच यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी लोक-गीतों पर यह पुस्तक अद्वितीय है। राजस्थान का उल्लास, उस की करुणा, उस की आपबीती का इस से सुन्दर परिचय अन्य किसी संग्रह में न मिलेगा।

प्रस्तावना में हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी गीतों के भाव-साम्य पर विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। सम्पादकों का कथन है, 'गीत-साहित्य के पुरुष-गीत और स्त्री-गीत नामक दो भेद किये जा सकते हैं। इन के साथ बालक-गीत नामक तीसरा भेद भी कर सकते हैं।' विषयानुसार स्त्री-गीतों के कुछ प्रमुख उपभेद ये बताये गये हैं—

धार्मिक हरजस या भजन, जात के गीत, त्यौहारों के गीत, उत्सवों के गीत, पारिवारिक जीवन के गीत, दाम्पत्य जीवन के गीत, ऐतिहासिक गीत-कथाएँ, काल्पनिक गीत-कथाएँ इत्यादि।

'राजस्थान के लोक गीत'[1] के दोनों खण्डों में कुल मिला कर २३० गीत दिये गये हैं।

तीज के गीत में कन्या ने गाया है, 'ऐ मेरी वाटिका की वृद्ध बेल, तुम को कौन सींचेगा? मेरा सावन का लोर सींचेगा, भादों की झड़ी लगेगी।' 'हे मेरे मोर, सावन लहरा रहा है!'

---

१ 'राजस्थान के लोक-गीत' (प्रथम भाग दो खण्डों में)—ठाकुर रामसिंह एम० ए० विशारद; श्री सूर्यकरण पारीक विशारद तथा श्रीनरोत्तमदास स्वामी एम० ए०; विशारद द्वारा सम्पादित; प्रत्येक खण्ड में एक सादा और एक तिरंगा चित्र; पृष्ठ-संख्या प्रथम खण्ड :४+२४६+२६ द्वितीय खण्ड २१७+२७; प्रकाशक, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता; मूल्य प्रति सजिल्द खण्ड २॥)

—तीज की यह टेक यदि मोर की समझ में आ सकती ! होली के गीतों में घी-मिली स्वादिष्ट लपसी और गाढ़ी खीर का गान हुआ है ; ग्राम के 'चानणा' चौक में होली का खंभ उतारनेवाले युवकों का लपसी और खीर द्वारा आतिथ्य करने की भावना का इतिहास कितना पुराना होगा ! 'वरस दिनों से होली पाहुनी आई है। हमारे वाड़े भेड़-बकरियों से भरे हैं, जिन के बीच में डाढ़ी वाला प्रेमी बकरा घूम रहा है ! हमारा वाड़ा सुहावनी साँढ़नियों से भरा है, जिन में गल्लेवाला युवक टोड (ऊँट) फिर रहा है । वरस दिनों से पाहुनी होली आई है !'—गीत की मूल-भाषा से कहीं अधिक पुरानी होगी जनता की यह भाव-धारा !

माँ से 'पोमचा' मँगवा देने की प्रार्थना करनेवाली कन्या का गान हमें राजस्थानी गृह-जीवन में ले जाता है। 'लूहर' नामक लोक-नृत्य में शामिल होने के लिए उस की उत्सुकता देखते ही बनती है। 'माँ, लूहर गाती हुई मैं नाचूँ, तब प्रसन्न हो कर मुझे लड्डू देना'—गीत के मूल-स्वर सुनने के लिए हमारा हृदय उछल पड़ता है।

विवाह-गान में घोड़ी का गीत एक विशेष तरंग का परिचायक है, 'हे घोड़ी, इन्द्र घहरा उठा। तू धीमे-धीमे चल। हे घोड़ी, चौमासा लग आया, तू हलके-हलके चल। दूलहे का पिता घोड़ी का मोल कर रहा है और माँ देखने को आती है।' बनड़ी (वधू) का गीत अलग अपना रंग जमाये हुए है, 'कच्ची दाख की बेल के नीचे खड़ी बनड़ी पान चबाती और फूल सूँघती है। यह अपने पिता से विनती करती है कि बाबा जी, देश के बजाय भले ही परदेस में देना, पर वर मेरी जोड़ी का देखना।'

यों राजस्थानी गीतों के कितने ही संग्रह कलकत्तासे प्रकाशित हो चुके हैं। जयपुर से भी कुछ संग्रह निकले हैं। श्रीजगदीशसिंह

गहलौत द्वारा प्रकाशित 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' अन्य सब संग्रहों के मुक़ाबिले में मुझे अत्यन्त पसन्द आया था। और अब यह नया प्रयास सब से बाज़ी ले गया है।

श्रीसूर्यकरण पारीकका देहावसान हो चुका है। अपने अन्य सम्पादित ग्रन्थों के साथ और इस लोकगीत-संपादनके साथ तो उनका नाम कभी मरने का नहीं।

एक अग्रगामी पत्रकार

भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय का नाम सुनहरी अक्षरों में लिखने योग्य है। 'प्रवासी', 'माडर्न रिव्यु' और 'विशाल-भारत' के संचालन के रूप में उन्हें सदैव यह ध्यान रहता था कि किस प्रकार देश को प्रगति-पथ पर अग्रसर किया जाय। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यु' के सम्पादन का दायित्व तो वे स्वयं ही अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाते रहे।

'विशाल-भारत' का सम्पादन-भार बनारसीदास चतुर्वेदी को सौंपते हुए उन्होंने सारी स्थिति को खूब तोल लिया था और यद्यपि वे हिंदी के उज्ज्वल भविष्य के प्रति बहुत उदार थे, फिर भी प्रायः यह प्रश्न ले बैठते थे कि क्यों न बंगला को ही राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया जाय। उनका यह मत केवल बंगला साहित्य की सम्पन्नता का प्रतीक था और वे अपनी मातृभाषा की साहित्यिक प्रगति की प्रशंसा करते कभी थकते नहीं थे।

'सन् सत्तावन के ग़दर के कोई आठ वर्ष पश्चात् मेरा जन्म हुआ था और इस बात का मुझे गर्व रहेगा', सन् १६३४ में प्रथम भेंट के अवसर पर रामानन्द बाबू कह उठे थे।

मैंने ज़रा झिझकते हुए कहा, 'इस हिसाब से मेरा जन्म सन् सत्तावन के ग़दर के कोई इकावन वर्ष पश्चात् हुआ।'

'तब तो तुम 'माडर्न रिव्यु' से आयु में एक वर्ष छोटे हो', रामानन्द बाबू ने ज़रा गम्भीर हो कर कहा। जनवरी १९०७ में 'माडर्न रिव्यु' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ था।

मैंने कहा, 'माडर्न रिव्यु' मैं बहुत दिनों से पढ़ता आ रहा हूँ। इसका मुझ पर कुछ इतना रोब रहा है कि इसमें लिखने की बात तो मैं सोच ही नहीं सका।'

'रोब तो होगा ही', वे कह उठे, 'क्योंकि आयु में तुम उससे छोटे हो, ख़ैर, अब उसके रोब का विचार छोड़ कर कुछ अवश्य लिख डालो।'

'माडर्न रिव्यु' में लिखने का निमंत्रण पा कर मैं पुलकित हो गया। यद्यपि यह भय बराबर बना रहा कि कैसे लिखूं, क्या लिखूं।

जब मैं दोबारा उनसे मिलने गया, तो उन्होंने हँस कर कहा, 'मैं 'विशाल भारत' में तुम्हारे लेखों का प्रकाशन रुकवा सकता हूँ, यह तो तुम जानते हो!'

'तो ज़रूर रुकवा दीजिए', मैंने हँस कर बढ़ावा दिया, 'चौबेजी के तकाजे से तो छुट्टी मिल जायगी।'

'तो वचन दो कि तुम 'माडर्न रिव्यु' के लिए अवश्य लिखोगे और शीघ्र ही,' वे गम्भीर होकर बोले।

मैंने कहा, मैं 'माडर्न रिव्यु' के लिए लिखना तो चाहता हूँ, पर सोचता हूँ, जो रस हिंदी में प्रस्तुतकर सकता हूं वह अंगरेज़ी में भी सम्भव हो सकेगा या नहीं।'

उन्होंने हँसकर कहा, 'विशाल-भारत' में तुम्हारे लेखों का प्रकाशन देख कर मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि उन्हें 'माडर्न रिव्यु' के लिए भी उपलब्ध किया जाय। एक बार मैंने बना-

रसीदास चतुर्वेदी से तुम्हारा पता भी मंगवाया था।'

'मैं यत्न अवश्य करूंगा कि 'माडर्न रिव्यु' के लिए भी कुछ लिख सकूं,' मैंने साहसपूर्वक कहा, 'शायद लिखते-लिखते लिखना आ जाय।'

एक लेख, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ—इस प्रकार अनेक लेख मैंने 'माडर्न रिव्यु' के लिए लिखे और हर वार मुझे यों लगता कि एक नई ही मंज़िल तक पहुंचना चाहिए, जिससे रामानन्द बाबू लेख को पसन्द कर सकें।

मेरे अनेक मित्र प्रायः यह सोचते कि मैंने रामानन्द बाबू पर कोई जादू कर रखा है। एक दो का तो यह ख्याल था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सिफारिश-द्वारा मैंने यह चाल चली है।

मुझे याद है कि किस प्रकार लेख के पहुँचते ही रामानन्द बाबू समय निकाल कर उसे पढ़ते और स्वयं हाथ से लिखे हुए पत्र द्वारा उसकी पहुँच का समाचार भेजते और लिखते कि किस अंक में जा रहा है। कई वार तो काफ़ी लम्बा पत्र आता और वे मेरी यात्राओं की प्रगति पर हर्ष प्रकट करते।

हाँ, एक वात तो मैं भूल ही रहा हूँ। प्रथम भेंट के अवसर पर मैंने उनसे कहा था कि उनके कितने सुपुत्र हैं। उन्होंने केदार और अशोक का नाम लिया। मैंने हँस कर कहा, 'केदार, अशोक और देवेन्द्र। दो से तीन हो जांय तो क्या हर्ज है?'

उनका चेहरा एकदम खिल उठा, बोले, 'यही सही, यह कुछ बुरा थोड़ी है कि किसी को पाला-पोसा पुत्र मुफ़्त में मिल जाय!'

अन्तिम दिनों तक उनका पितृ-रूप ही मेरे मानस-पटल पर अंकित होता चला गया। संस्कृति और कला के अग्रदूत के रूप में तो उनका चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित रहता ही था। पर इस चित्र की कौटुम्बिक रूपरेखा को भला मैं कैसे भुला सकता

हूं ? स्वाधीनता-संग्राम के सफल सिपाही के रूप में भी रामानन्द बाबू का व्यक्तित्व इतिहास की वस्तु बन चुका है। उधर से प्रतिकूल युक्तियां दी जा रही हैं कि भारत की स्वाधीनता सम्भव नहीं, इधर से यह अग्रगामी पत्रकार अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में बराबर उन युक्तियों का खण्डन किये जा रहा है।

गुरुदेव के मुख से मैंने अनेक बार रामानन्द बाबू की प्रशंसा सुनी थी। एक बार उन्होंने कहा था, 'रामानन्द बाबू ने 'माडर्न रिव्यु' द्वारा विश्व की अंगरेज़ी भाषी-जनता से मेरा परिचय न कराया होता तो शायद अनेक वर्षों तक विलियम बटलर यीट्स से मेरा परिचय न हो सकता।'

राजनीतिक नेता बनने की महत्त्वाकांक्षा ने रामानन्द बाबू को कभी छूआ तक नहीं था। एक बार कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर उन्हें प्रेस-गैलरी में बैठे देख कर नेताओं ने अनुरोध किया कि वे मंच पर आ जांय। उन्होंने यही उत्तर दिया, 'मैं एक पत्रकार हूं और मेरा स्थान प्रेस-गैलरी ही में है, मेरे पास प्रेस-कार्ड है।'

ये सदैव लोकमत के प्रहरी रहे। १९३६ में जे० टी० सण्डरलैण्ड ने लिखा था, 'माडर्न रिव्यु' से मेरा परिचय पिछले ३० वर्ष के लगभग का है...भारत के सम्बन्ध में उससे बड़ी मूल्यवान जानकारी रहती है।...अमरीका या ब्रिटेन में ऐसा कोई पत्र नहीं जिसका क्षेत्र इतना व्यापक हो और जो इतने सही, विद्वत्तापूर्ण ढंग से विश्व-समस्याओं पर प्रकाश डालता हो।'

३० सितम्बर १९४३ के दिन भारत के इस अग्रगामी पत्रकार ने देश के साथ अपने स्थूल सम्बंध का अन्त कर दिया। उस समय उसकी आयु ७८ वर्ष की थी। वस्तुतः रामानन्द चट्टोपाध्याय का नाम लिये बिना भारतीय नवजागरण का इतिहास कभी पूर्ण नहीं हो सकता।

एक पंजाबी कवियित्री

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई कवि एकदम रूढ़िगत शैली की कविता की दलदल में धंसने के बाद आराम से बाहर निकल आया। अन्य भाषाओं में भी ऐसे कवियों के नाम गिनाये जा सकते होंगे, पर मैं एक पंजाबी कवियित्री की चर्चा करना चाहता हूं। शायद सब से पहले इस कवियित्री का नाम बताने की माँग की जायगी। इस सम्बन्ध में अभी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन दिनों उसे रूढ़िगत शैली प्रिय थी उस का नाम भी रूढ़िगत था। पर जब वह समस्त बन्धन तोड़ कर मुक्त वातावरण में साँस लेने लगी तो उसने अपने नाम में भी सुधार कर लिया।

अमृत कौर—यही उस कवियित्री का नाम था, जब मुझे उस का प्रथम कविता-संग्रह देखने को मिला। इस संग्रह का नाम भी रूढ़िगत था, 'अमृत लहरी,' अर्थात् अमृत की लहरें अथवा कवियित्री अमृतकौर की कविताएं। यह नामकरण कुछ ऐसा ही था जैसे कोई कहे 'बेताल पचीसी,' 'प्रेम पचीसी,' 'प्रेम द्वादशी,' अथवा 'प्रेम पूर्णिमा।'

इस कवियित्री का नया न ‌ ‌ ‌ 'अमृत प्रीतम ।' वस्तुतः अमृतकौर से अमृताप्रीतम की मंजिल तक पहुंचते इस प्रगतिशील पंजाबी कवियित्री को बहुत अधिक समय नहीं लगा था। यहाँ इतना और बता देना आवश्यक होगा कि आरम्भ में जब इस कवियित्री की कविता नये नाम के साथ एक प्रसिद्ध पंजाबी पत्रिका में प्रकाशित हुई तो मुझे कुछ-कुछ झुंझलाहट अवश्य हुई थी। क्योंकि मन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि बने-बनाये चित्र में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन भी अखरता है। मुझे याद है मैंने स्वयं पंजाबी भाषा की इस लोकप्रिय कवियित्री से कहा था कि इस प्रकार नाम बदलना उचित नहीं। पर वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही। मैंने बहुत कहा कि लोग कहीं उसे प्रसिद्ध चित्रलेखा अमृतशेरगिल के नाम का अनुकरण समझ कर हंस न दें। वह सामने हंस केवल मुसकरा कर रह गई। मैंने इस कवियित्री के पति महोदय सरदार प्रीतमसिंह से भी कहा कि वे कवियित्री महोदया को समझायें। वे भी मुसकरा कर रह गये। मैंने समझ लिया कि अब यही नाम चलेगा। अतः मैंने अपने कानों को इसी श्रुति-मधुर नाम का अभ्यस्त कर लिया।

नाम बदलने से पूर्व ही इस कवियित्री की शैली में परिवर्त्तन आ चुका था। उसने अपनी वेश-भूषा भी बहुत कुछ बदल ली थी। जहां पहले उसके फोटोग्राफ़ को देख कर अधिक-से-अधिक उसे मध्यश्रेणी की कुलवधु कहा जा सकता था, वहां इस नये वेश में, विशेष रूप से केश-विन्यास की दृष्टि से, उसे एकदम उच्च-श्रेणी की महिला कहने पर मजबूर होना पड़ता था।

शायद यहां यह आपत्ति की जाय कि इस कवियित्री महोदया की कविता के सम्बन्ध में अधिक न कह कर इधर-उधर की बातें क्यों कही जा रही हैं। इस के उत्तर में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी कवि अथवा कवियित्री की मान-

सिक पृष्ठभूमि को समझने में ये सब बातें आवश्यक होती हैं।

इन्हीं दिनों इस कवियित्री की एक कविता प्रसिद्ध पंजाबी पत्रिका 'प्रीत-लड़ी' में प्रकाशित हुई है जिसे यहां उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं किया जा सकता—

मुशकलां दे चीरां नाल लकीरीयां हथ्थां दा वचन
मेरी उमर तों वी लम्मी है मेरी वफ़ा दी लकीर
तुसी रोज़ पुच्छ दे हो मेरी वफ़ा दी उमर
प्रीत दा सच्चा हरफ कुच्छ कहिया दा मोहताज है?
इश्क नूँ आदत न पाओ बोलण दी
अजे ताँ लोक-कन्नां नूँ सुनन दी जाच नहीं आई
लफ़ज़ां दी दौलत बिना वी, वफ़ा है अमीर।
मेरे स्वास तां महिमान ने मेरे जिस्म दे
जा सकदे ने कदे वी
पर मिट नहीं सकदा कदे
तेरी मेरी प्रीत दा, समियां दी हिक्क ते जो पै चुक्का है चीर।
हीर किसे लैला दी नकल नहीं
न मजनू किसे राँझे दी रीस
इश्क़ कदे तारीख़ नूँ दोहरांदा नहीं
एहदा हर सफा हुन्दा है बेनज़ीर।
तलियां नूँ छेक रहे ने
पोटयां नूँ विन्ह रहे ने मुश्कलां दे तीर
पर विन्हियां तलियां दे कण्डे
आस इक्क अंगड़ाई लै रही है।
किसे शरणावानी सवेर दी कसम
झनां दीयां लहरां नहीं मेरा अख़ीर।
मुश्कलां दे चीरां नाल लकीरियां हथ्थां दा वचन;
मेरी उमर तों वी लम्मी है मेरी वफ़ा दी लकीर।

'कठिनाइयों द्वारा चिरते रहने के कारण रेखायुक्त हाथों का वचन—

मेरी आयु से भी लम्बी है मेरी विश्वासपात्रता की रेखा
तुम प्रति दिन पूछते हो मेरी विश्वासपात्रता की आयु
क्या प्रीति के सत्य अक्षर कुछ बताने के मोहताज हैं ?
इश्क़ को कुछ कहने का अभ्यस्त मत बनाओ
अभी जनता के कानों को कुछ सुनने की परख नहीं आई
शब्दों के वैभव के बिना भी विश्वासपात्रता सम्पन्न है।
मेरे श्वास तो अतिथि हैं मेरे शरीर के
कभी भी जा सकते हैं
पर मिट नहीं सकता कभी
तेरी मेरी प्रीति का, युगों के वक्षस्थल पर पड़ा हुआ चीरा !
हीर किसी लैला की नक़ल नहीं
न मजनूँ है किसी राँझे की अनुकरण-प्रवृत्ति
इश्क़ कभी इतिहास को दोहराता नहीं
इस का तो प्रत्येक पृष्ठ अद्वितीय होता है।
तलवों में सूराख़ कर रहे हैं
अंगुलियों के पोरों को बींध रहे हैं कठिनाइयों के तीर
पर बिंधे हुए तलवों के किनारे
आशा एक अंगड़ाई ले रही है।
कठिनाइयों द्वारा चिरते रहने के कारण रेखायुक्त हाथों का वचन—
मेरी आयु से भी लम्बी है मेरी विश्वासपात्रता की रेखा।'

मुझे अमृता प्रीतम की अनेक कविताएं पसन्द हैं। मैंने उन्हें बार-बार पढ़ा है और हर बार एक नया ही रस प्राप्त किया है।

देश के विभाजन से पूर्व अमृता प्रीतम का निवास-स्थान था लाहौर। अब वे दिल्ली आ गई हैं। पहले वे बहुत अधिक

लिखती थीं। क्योंकि उन्हें बहुत अवकाश था। बल्कि मुझे तो भय था कि कहीं अधिक लिखते रहने से उनकी लेखनी थक-हार कर लिखने से रह न जाय। पर अब उन का अवकाश छिन गया, और वे परिश्रम करने के लिए मजबूर हैं। एक दबी-दबी-सी पुकार च्योंटी की भाँति रींगती रहती है—एक वेदना, जो किसी भी उच्च-कोटि के कलाकार की सृजन-शक्ति को विकास-पथ की ओर अग्रसर कर सकती है।

अमृता प्रीतम आजकल कुछ कम ही लिख पाती हैं। इसे मैं एक शुभ लक्षण समझ कर इस का स्वागत करता हूँ।

अमृत शेरगिल

चित्रलेखा अमृत की मुसकान मुझे सदैव प्रिय रहेगी। आज अमृत जीवित नहीं। पर उसकी मुसकान आज भी उपलब्ध है। उसका चित्र मेरे सम्मुख है। इसे कैमरामैन का कौशल कहना होगा कि किस प्रकार उसने इस सुकेशिनी के मुख पर ठीक मुसकान प्रस्तुत कर दी जो उस समय अमृत के ओठों पर नाच उठी थी, जब मैंने सर्व-प्रथम सन् १९३६ में उसे शिमला में समर हिल पर वयोवृद्ध और चिन्तनशील पिता सरदार उमरायोसिंह शेरगिल के निवास-स्थान पर देखा था।

'अमृत के चित्र तुम्हें कैसे लगते हैं?' उसके पिता ने पूछ लिया।

'मेरे लिए इनमें बड़ी नवीनता है', मैंने कहा, 'कुछ परवाह नहीं यदि अमृत की प्रतिभा का विकास योरोपीय प्रभावों का ऋणी है। उसने भारतीयता के मर्म को पा लिया है, ऐसा लगता है।'

शिमला में अमृत की वह छोटी-सी चित्रशाला कितनी सुन्दर थी, जहां बैठकर उसने रंग और कूंची के अनेक प्रयोग

किये। थोड़े ही समय में अमृत ने भारत के चित्रकारों के सामने एक चुनौती उपस्थित की, क्योंकि उसे अपने चिन्तन की पृष्ठभूमि में एक वयोवृद्ध भारतीय पिता का ज्ञान उपलब्ध था।

अमृत ने मुझे स्वयं बतलाया था कि किस प्रकार सन् १९३४ में, जब वह अभी भारत में पहुंची ही थी, शिमला की एक प्रदर्शिनी में उसके एक चित्र पर पुरस्कार दिया गया। पर यह पुरस्कार एक ऐसे चित्र पर दिया गया था जो स्वयं अमृत की दृष्टि में इतना उत्कृष्ट नहीं था। उसने अपने उस चित्र का अपमान समझा जिसे वह अपना सबसे बढ़िया चित्र समझती थी। अतः उसने प्रदर्शिनी-समिति को पुरस्कार की रकम लौटा दी। उसे अपनी तूलिका में कितना विश्वास है, यह बात मैंने उसी समय समझ ली थी।

'अमृत, तुम्हारा जन्म कहां हुआ था?' मैंने पूछ लिया।

'हंगरी की राजधानी बूदापस्त में,' वह बोली, 'सन् १९१३ में मेरा जन्म हुआ था।'

मैंने उछल कर कहा, 'अमृत, तुम मुझ से पूरे पांच वर्ष छोटी हो।'

'मैं छोटी ही सही,' अमृत फिर कह उठी, 'मुझे सदैव ऐसा लगता है कि मैं सदा से चित्र खींचती आई हूँ।'

'तब तो तुम बड़ी हो, अमृत!'

'चित्रशाला के अनुभव में अवश्य बड़ी हूं!'

सन् १९३६ में दिल्ली की आल इण्डिया फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी ने अमृत के एक चित्र पर पुरस्कार दिया। इसी वर्ष बम्बई की फाइन आर्ट्स सोसाइटी ने उनके 'कुछ हिन्दुस्तानी लड़कियां' शीर्षक चित्र को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया और इस पर स्वर्ण-पदक दिया। इन्हीं दिनों अमृत ने समस्त भारत की यात्रा की और अनेक स्थानों पर उसके चित्रों की

स्वतन्त्र प्रदर्शिनियों का प्रबन्ध किया गया। दक्षिण में अजन्ता की गुफाओं में जा कर जब उस ने भारत के प्रसिद्ध चित्रों का रसास्वादन किया तो उसे वस्तुतः एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुई।

अमृत को छोटे चित्रपट का उपयोग नापसन्द था। बड़ा चित्रपट प्रयोग में लाने के कारण उस के लिए यह और भी सहज हो गया कि अपने चित्र में भित्ति चित्रों के गुणों का समावेश दिखा सके। अजन्ता की यात्रा के पश्चात् अमृत की तूलिका में जो परिवर्तन हुआ वह प्रत्यक्ष है। उन दिनों एक मित्र को लिखे हुए पत्रों में उन्होंने यह बात अपनी लेखनी से भी स्पष्ट कर दी थी, 'मैं बड़ी मेहनत कर रही हूं और एक मात्र बड़े चित्रपटों की तैयारी में लगी हूं। विषय की दृष्टि से इनमें दक्षिण भारत की छाप हैं जो मैंने ग्रहण की है, और चित्र-व्यवस्था की दृष्टि से यह उस महान शिक्षा का, जिसे मैंने अजंता में ग्रहण किया, प्रकट रूप है।'

बम्बई के प्रसिद्ध कलाविद् काले खंडेलवाला ने अमृत शेर-गिल के चित्रों का सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया है। श्री खंडेल-वाला के मतानुसार, अमृत शेरगिल पर भारतीय मूर्त्तिकला का प्रभाव पड़ा था और वह उन के चित्रों की व्यवस्था में लक्षित होता है। एक मित्र के नाम अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा भी था, 'आकार के प्रति मुझे बड़ा आकर्षण है, यद्यपि रंग की मैं पूजा करती हूं!'

सन् १९४१ में अमृत से मेरी भेंट हुई। वे अपने नये चित्रों की प्रदर्शिनी में जुटी हुई थीं। अचानक बीमार पड़ गईं और एक दिन समाचार मिला कि वे चल बसीं। युवावस्था ही में भारत की इस चित्रलेखा की मृत्यु हो गई—यह दुखद घटना भारतीय कला के इतिहास में सदैव अत्यन्त विषाद के साथ स्मरण की जायगी।

झवेरचन्द मेघाणी

गुजराती कवि उमाशंकर जोशी ने काठियावाड़ के प्रसिद्ध लोकगीत-संग्रहकर्त्ता स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी का रेखाचित्र उनके जीवनकाल में ही प्रस्तुत किया था। मैं उमाशंकर से होड़ नहीं लेना चाहता। मैं तो मेघाणीजी के प्रति श्रद्धा के दो फूल भेंट कर रहा हूँ। उमाशंकर ने अपने रेखाचित्र के आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट शब्दों में कह दी थी, 'मेघाणी की सूरत-शकल देखने से पता चलता है, मानो इस शताब्दि में आने के लिए उन्होंने काफी प्रतीक्षा नहीं की। एक काठियावाड़ी योद्धा-सी भराव-दार काया और वैसी ही उनकी आंखें हैं। पर वे नम्र इतने हैं कि अपने नौकर को भी भाई कह कर पुकारते हैं।'

मेघाणीजी का जन्म १८९७ में हुआ था। उनके पिता एक पुलिस अधिकारी थे। इस बात का उल्लेख मैं विशेष गर्व से करना चाहता हूँ कि उनका जन्म पंजाब के पहाड़ी प्रदेश में हुआ था। बचपन पिता के साथ बिताया। अपने ग्रन्थ 'सोरठ तारा वहेतां पाणी' में उन्होंने इसकी चर्चा की है। जूनागढ़ और भाव-नगर के कालिजों में उनकी शिक्षा हुई। आल्यू

कारखाने में काम करने के विचार से वे कलकत्ता गये इसी धन्देके सम्बन्ध में इङ्गलैंड भी हो आये।

किस प्रकार आल्यूमीनियम के कारखाने से उन्होंने एकदम गुजरात की पत्रकार-कला के क्षेत्र में प्रवेश किया, इसका श्रेय 'सौराष्ट्र' पत्र के अधिपति श्रीअमृतलाल सेठ को है। फिर तो मेघाणीजी काठियावाड़ में ही डट गये।

काठियावाड़ मेघाणीजी को खूब रास आया। यहां उन्होंने लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने का कार्य भी अपने ऊपर ले लिया। इस क्षेत्र में, उनकी सेवाओं के लिए उन्हें 'गलियारा पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ। उनके 'रढियाली रात' 'चुन्दड़ी', सौराष्ट्र नी रसधार,' सरीखे लोकगीत-संग्रह बेजोड़ हैं।

मेघाणीजी ने अनेक कवितायें लिखीं। उनके 'जागो जग ना क्षुधार्त्त' और 'कवि, तमे केम गमे' शीर्षक गान गुजरात में बहुत लोकप्रिय है। सन् १९३० में सत्याग्रह आंदोलन में उन्हें दो वर्ष की सज़ा सुनाई गई तो उन्होंने भरी कचहरी में मैजिस्ट्रेट के सम्मुख अपना गान 'हजारों वर्ष नी जूनी अमारी वेदनाओ' इतने करुण-स्वर में गा सुनाया था कि स्वयं मैजिस्ट्रेट की आंखों में भी अश्रु आ गये थे।

जब गांधीजी दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए जाने लगे तो मेघाणीजी ने एक कविता लिखी, 'छेल्लो कटोरो झेर नो आ पी जजे बापू !' इस कविताके सम्बन्ध में स्वयं बापू ने स्वीकार किया था—'मेरे मन के भाव बिल्कुल ऐसे ही थे जैसे इस कविता में।'

मेघाणी जी एक कहानी-लेखक के रूप में भी प्रसिद्ध हुए। 'समरांगण' का ऐतिहासिक उपन्यास है। 'वे विशाल' उनका एक और उपन्यास है। पर यह बात विशेष जोर देकर कही जा सकती है कि अपनी मौलिक कृतियों के लिए नहीं, बल्कि

लोक-साहित्य के संरक्षण के लिए ही मेघाणीजी अमर हो गये। वैसे काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, विवेचना, प्रवास, जीवनी, अनुसन्धान, इत्यादि के कुल मिला कर पचास-साठ ग्रन्थ मेघाणीजी ने अपनी लेखनी द्वारा गुजराती साहित्य की भेंट किये।

मेघाणीजी की लोकगीत-सम्बन्धी तपस्या भारतीय लोक-साहित्य के इतिहास की चिरस्मरणीय वस्तु है।

कला की परख

मेरे हाथ में इतनी शक्ति नहीं कि तूलिका और रंगों की सहायता से कोई चित्र प्रस्तुत कर सकूं। पर यह बात नहीं कि मैं चित्रकला को समझता ही नहीं। एक रंग के समीप दूसरे रंग को किस प्रकार स्नेह या सम्मान प्रकट करना चाहिए, यह बात मैंने स्वयं बड़े-बड़े चित्रशिल्पियों के मुख से सुनी है और इसे समझने का यत्न किया है। अनेक पुराने और नये चित्रों को परखते समय मुझे कोई झुंझलाहट नहीं होती। जो चित्र मुझ से बात कर सके, स्वयं मुझे अपना मर्म बता सके, वही चित्र मुझे पसन्द आता है। यह और बात है कि कोई चित्र झट अपनी बात कह देता है और कोई ज़रा रुक-रुक कर, जैसे यह कह रहा हो कि थोड़ा तुम मेरे समीप आओ, थोड़ा मैं तुम्हारे समीप आऊंगा।

जीवन और प्रकृति का अध्ययन किये बिना कोई लाख कूंची चलाये, लाख रंग उठा-उठा कर रखे, पर बात नहीं बनती। जीवन और प्रकृति का अध्ययन तो मैंने भी किया है, कूंची और रंग के प्रयोग नहीं किये। किसी को चित्र अंकित करते देख कर

मन पछताने लगता है, मैंने भी क्यों न कूंची और रङ्ग का अभ्यास किया ? इस झुंझलाहट में मैं कला के समीप चला आता हूं; जैसे दिनों का पथ क्षणों में तै कर लिया गया हो।

अभी उस दिन एक आर्ट स्कूल के विद्यार्थी से भेंट हुई। मैंने पूछा, 'अपने यहाँ की शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में कुछ बताओ।'

वह बोला, 'हमारे यहाँ तो बस नकल करना ही सिखाया जाता है।'

'नक़ल करना ?' मैंने हंस कर पूछा

'जी हाँ' 'वह बोला,' 'सुनिये, छोटी-छोटी चीजों की नकल का अभ्यास हो चुकने पर हमारे अध्यापक महोदय अपने गुरु के चित्र हमारे सामने रख देते हैं। बहुत दिनों तक यही अभ्यास चलता है। इन चित्रों की नकल का काम शेष नहीं रह जाता तो अध्यापक महोदय अपनी कूंची के करिश्मे हमारे सम्मुख ला रखते हैं। कहते हैं—लीजिए अब हू-ब-हू ऐसे ही चित्र बनाइए। यह नक़ल का क्रम कभी खत्म नहीं होता। जैसे मौलिकता व्यर्थ हो !'

जाने यह बात कितने आर्ट-स्कूलों के सम्बन्ध में ठीक होगी। मैं चित्रकला का विद्यार्थी होता तो क्या करता ? यह प्रश्न मन में उठता है। मैं तो पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों को समीप से देखता, स्थावर और जंगम का पूरा-पूरा अध्ययन करता। पर क्या इतने से ही मैं एक महान कलाकार बन जाता ?

एक बार श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने अनुभव का मर्म प्रस्तुत करते हुए बताया था, 'मनुष्य को मनुष्य के रूप में, वृक्षों को वृक्षों के रूप में देख कर उन की नकल कर के ही प्रकृति का अध्ययन किया जाना चाहिए, यह बात मानने का अब प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि नकल करना मात्र तो कला

नहीं है। कला है प्रकृति की यथार्थ व्याख्या, अर्थात् प्रकृति का अध्ययन कर के उसे जैसा समझा है, मेरे मन ने उसे जिस रूप में ग्रहण किया है, उसी की सरल सुन्दर छवि प्रस्तुत करना ही कलाकार की हैसियत से मेरा उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य के मनुष्यत्व, पशु के पशुत्व और पुष्प की भीतरी बात से ही कलाकार को सरोकार है। चर्मचक्षु से जो कुछ दिखाई पड़ता है और जो उस से नहीं दिखाई पड़ता है, मनश्चक्षु द्वारा उस का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर के कलाकार अपने निपुण हाथों से कागज़ लेखनी अथवा तूलिका से या पेंसिल, कंठस्वर अथवा अंग-भंगिमा द्वारा उसे व्यक्त करता है।'

जो कला दर्शक, श्रोता अथवा पाठक के मन को आकर्षित नहीं कर पाती, उस में अवश्य कहीं कुछ कमी रह गई है—यह बात झट मन में उठती है। क्योंकि कलाकार का दायित्व केवल यही नहीं कि वह अपने भावों की अभिव्यक्ति करे। इस बात का ध्यान तो उसे रखना ही होगा कि उस के मन की बात दूसरों के मन तक जा पहुंचे।

श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही तो कहा है, 'ऐसे कलाकार कितने हैं जिनके रूप-प्रदर्शन को देख कर कहा जा सके—खुलिलो मनेर द्वार, न लागे कवाट—अर्थात् मन का द्वार खुल गया, अब यह बन्द नहीं हो सकता।' संसार में अनेक दिनों से अनेक कलाकार चित्र अंकित करते आ रहे हैं, मूर्त्ति बनाते आ रहे हैं। यदि संसार के सभी कलाकार इकट्ठे हो जाँय तो कदाचित् कलकत्ता जैसी महानगरी में भी उनके लिए स्थान मिल सकेगा या नहीं, इस में सन्देह है। यदि समूचे कैन्वस, कागज़, पेंसिल, तूलिका, पत्थर आदि जिन वस्तुओं का व्यवहार कलाकारों ने अब तक किया है और कर रहे हैं, उन्हें एक स्थान पर जमा किया जाय तो हिमालय न सही, एक छोटा-मोटा पहाड़ अवश्य

बन जायगा। पर उन में से कितने रंगे गये कैन्वस 'चित्र' कहलाने योग्य बन पाये हैं, कितने कलाकारों की कृतियों ने वस्तुतः हमारे मन को आकर्षित किया है? गिनने पर इन की संख्या पचास तक भी पहुंचती है या नहीं, इस में भी मुझे तो सन्देह है। कलाकार यदि चित्र या संगीत में, काव्य या अंग-भंगिमा में, अपने मन को केन्द्रीभूत नहीं कर सका तो उसका परिणाम वृथा है। उसकी कृति किसी के मन को आकर्षित नहीं कर सकेगी। मन को केन्द्रीभूत करने के लिए कलाकार को स्वभाव की शरण में जाना होगा। वह जो कुछ निर्माण करना चाहता है उसके स्वभाव को समझे बिना उसका समस्त परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। इतना ईमानदार तो कलाकार को होना ही चाहिए कि वह अपने चारों ओर की वस्तुओं के साथ अपने मन को मिलाना न भूले, क्योंकि इसके बिना प्रकृति उसकी पकड़ में नहीं आयेगी। यहां कला भी योग के स्तर तक जा पहुंचती है, क्योंकि कलाकार को चित्त-वृत्ति का निरोध करना होता है। मन जब स्थिर सरोवर के समान स्वच्छता प्राप्त करता है, तभी प्रकृति का प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है।'

यहां यह बात तो स्पष्ट हो गई कि कला का अर्थ अनुकरण या नक़ल नहीं। कला का अर्थ व्याख्या के अतिरिक्त और हो ही नहीं सकता। कलाकार यदि अन्तर की बात प्रकट करने में असमर्थ रहता है तो उसे कलाकार की पदवी मिल ही नहीं सकती। प्रकृति के अन्तर तक पहुँच कर हमारे सम्मुख उसे अंकित कर दिखाने के उत्तरदायित्व से वह कभी बरी नहीं हो सकता, जब हमारा मन उस बात को उसकी कलाकृति में देख ले। दूसरे शब्दों में इसे मन का विकास भी कह सकते हैं। क्योंकि जब कलाकार विकास-मार्ग की अनेक मंजिलें तै करता हुआ उस पड़ाव तक आ पहुंचता है तो उसमें इतनी शक्ति आ जाती

है कि सुन्दर-असुन्दर के अन्तर तक पहुँच कर कोई वात पैदा कर सके। श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर के कथनानुसार, 'कलाकार' के मन का पता कला में चलता है। इसीलिए हम कला का आदर करते हैं। नहीं तो हिमालय पहाड़ को कई इंच के चतुष्कोण फ्रेम में वंधवा कर दीवार पर लटका रखने में मुझे क्या लाभ है? हमें तो हिमालय के मन की वात की ही आवश्यकता है। कलाकार का तो यही काम है कि वह अपने मन से पार्थिव वस्तु के मन की वात को समझे और इस वात को हमारे मन में अंकित कर दे।'

कलाकार काम-धाम, खाने और घर-द्वार की फिक्र छोड़ कर केवल प्रकृति के खेल में ही जीवन खपा दे, यह वात नहीं। पर उसे प्रकृति के लिए अपने मन का द्वार खुला रखना चाहिए ताकि जब कभी प्रकृति स्वयं कृपा पूर्वक कलाकार के यहां आये तो उसके मन के द्वार को वन्द पा कर लौट न जाय।

प्रकृति के साथ मानव-स्वभाव की मित्रता का उल्लेख करते हुए श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं, 'हम आज के ज़माने में यूनानी कलाकारों की वनाई हुई जिन पत्थर की मूर्त्तियों को देख कर दंग रह जाते हैं, वे प्रकृति के साथ मानव-मन की मित्रता का परिणाम हैं। जिन कलाकारों ने इन अचरज में डालने वाली मूर्त्तियों का निर्माण किया था, वे हवा पीकर, पुष्प-मधु खाकर जीवन धारण नहीं करते थे। उन्हें भी अपने वाल-वच्चों की गुज़र-वसर की फ़िक्र करनी पड़ती थी। पर इन सव के वावजूद उन्हें ये मूर्त्तियां कहां और कैसे मिलीं? क्या उस समय मनुष्य इसी तरह का सुन्दर था, या ये उसकी मनघड़न्त मूर्त्तियां हैं? यूनानी मूर्त्तियां मनुष्य का अनुकरण नहीं हैं, यह वात निश्चित है। वे किसी भी प्राचीन मूर्त्ति के अनुकरण पर भी नहीं वनी हैं, यह भी निश्चित है। तव फिर उनका निर्माण कैसे हुआ? यूनानी कलाकारों ने अवश्य ही मानव-स्वभाव के

साथ मित्रता करना सीखा था, और उसी के फल-स्वरूप वे इन दुर्लभ कला-रत्नों के मालिक बन सके। इसी पारस की खोज में आज हम संलग्न हैं। यूनानी जाति ने 'आयोलियन हार्प' का आविष्कार किया था। उसे वे अपने दरवाज़ों पर लटका रखते थे। वह वीणा इतनी विचित्र थी कि हवा के मामूली झकोरे के लगते ही इससे विचित्र संगीत झंकृत होने लगता था। कलाकार की मनोवीणा इसी प्रकार चारों ओर समस्वर से बंधी होनी चाहिए, जिसमें स्वभाव के नाम मात्र स्पर्श से ही वह मुखरित हो उठे। वह काम-धन्धे में हो, सुख में हो, दुःख में हो, पर उस की मनोवीणा सदा एक स्वर में विश्व के साथ बंधी रहे, ताकि उस के झकोरे से या दुःख की पीड़ा से वह वायव्य वीणा की तरह संगीत झंकृत कर सके। कलाकार जीविकोपार्जन की चेष्टा करे, पैसा कमाने के लिए उद्योग करे, किन्तु उसकी मनोवीणा सदा इस विशाल विश्व की भाव-तरंगों से झंकृत होने के लिए मुक्त-प्रस्तुत रहनी चाहिए।'

पिचत्तर वर्षीय वृद्ध शिल्पाचार्य श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय कला के लिए जो साधना की है उस का उल्लेख करते हुए भविष्य का इतिहासज्ञ सदैव गर्व से सिर ऊंचा कर लेगा। कला की परख कैसे की जाय? किस प्रकार देश को वास्तविक कला के पथ की ओर अग्रसर किया जाय? इन प्रश्नों का उत्तर सहज नहीं। जो लोग यह समझते हैं कि बंगाल-स्कूल के कलाकारों के आचार्य का ध्यान सदैव अजन्ता की ओर रहता है और यही बात उन्होंने अपने शिष्यों में भी पैदा कर दी, उन्हें श्री-अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की विचार-धारा के मर्म को समझना चाहिए। वस्तुतः अनुकरण कभी भी उनका आदर्श नहीं रहा।

ठाकुर परिवार ने किस प्रकार भारतीय कला को आगे बढ़ाया, इस पर एक पुस्तक लिखी जा सकती है। अवनी बाबू

के भ्राता श्रीगगनेन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र आज भी कितने नये प्रतीत होते हैं। 'सीढ़ियों में भेंट' शीर्षक उनका चित्र वस्तुतः आधुनिक भारतीय चित्रों में अद्वितीय है। आज गगन बाबू के चित्र दुर्लभ हैं। यद्यपि सुनने में आया है कि कुछ दिन पहले तक गगन बाबू के चित्रों को उनके कुछ अबोध वंशजों ने थोड़े थोड़े पैसों में बेच डाला था। गगन बाबू के चित्रों का एक अच्छा संग्रह अवश्य किया जाना चाहिए। आज भी उनके चित्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आत्मकथा में उपलब्ध हैं। उनमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बचपन का चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्रकला के क्षेत्र में प्रवेश किया तो कुछ लोगों को यह बात बहुत विचित्र प्रतीत हुई। पर जब विदेशों में जाकर उन्होंने अपने चित्र प्रदर्शिनियों में रखे और कला के आलोचकों और आचार्यों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की तो देशवासियों को इतना विश्वास अवश्य आया कि गुरुदेव ने चित्र अंकित किये हैं अवश्य। उनके अनेक चित्र विश्वभारती पत्रिका में प्रकाशित हो चुके थे। इनमें से सभी चित्र भले ही महत्वपूर्ण न हों, कुछ चित्र तो वस्तुतः इतने प्राणमय हैं कि उन्हें भारतीय चित्रों में स्थायी स्थान मिलना चाहिए।

कला की सब से बड़ी विशेषता है चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति। इसी के द्वारा कलाकार मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है। परम सुन्दर की कोई बात उसकी कोई मंगलमय क्रीड़ा—इस का स्पर्श तो कला में रहना ही चाहिए।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्यों में श्रीनन्दलाल बसु का अद्वितीय स्थान है। नन्द बाबू के चित्रों में मुझे एकतारा बजाते गायन का चित्र बहुत प्रिय है। जैसे यह गायन कह रहा हो—और सब बात मिथ्या, संगीत ही सत्य है।

आती। कुछ उत्कर्ष ही होता है।'

कला की परख के सम्बन्ध में नन्द बाबू की एक और शक्ति मुझे सदैव प्रेरणा देती रहेगी—'किसी ने कहा—नवीन जौ की बालियों के शीर्ष देखने से ऐसा लगता है, मानो कोई टूटे पंखों की तितली हो। किन्तु यथार्थ प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने कहा—बालियों के शीर्ष देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो पर होते ही वे तितली की तरह उड़ जातीं। एक ही उपमा है किन्तु देखने की भंगी और कहने के कौशल में कितना बे-हिसाब अन्तर है।'

कलाकार चाहे तो परम्परा को भी एक नये अर्थ से सम्पन्न कर सकता है। बल्कि यह कहना होगा कि उसे इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

हृदय सदैव सहानुभूति से भरा रहता है। मैंने उनके अपने विद्यार्थियों को उनके इस गुण की प्रशंसा करते सुना है। मुझे स्वयं भी इसका अनुभव है। यद्यपि मुझे तूलिका उठाने का अन्दाज बिल्कुल नहीं आता।

दो वर्ष हुए जब मैं शान्तिनिकेतन गया और उनसे मिला, मैंने कहा—'नन्द बाबू, क्या आप मुझे भी कलाकार बना सकते हैं।'

वे हँस कर बोले—'जो पहले ही कलाकार है उसे बताने की तो मुझे आवश्यकता नहीं दीखती!'

मैं भी हस पड़ा। पलट कर मैंने कहा—'नन्द बाबू, मेरा आशय तूलिका और रंग की कला से है। क्या कभी मैं यह सब सीख सकूंगा?'

'तुम जम कर यहां रह जाओ और बैठकर अभ्यास करो तो थोड़े ही दिनों में यह सब खेल खेलने लगो!'

'पर जम कर कैसे रह जाऊं? मेरे पैर में चक्कर है।'

'यह कहो कि पैर का चक्कर किसी एक कोने से बन्ध कर नहीं रहने देता। यह तुम्हें दूर-दूर ले जाता है—कला की तलाश में।'

'यह तो सत्य है—कला मुझे प्रिय है, भले ही कोई मुझे कला का पारखी न समझे!'

'कला की परख और क्या होती है? केवल वस्तु मन को आन्दोलित नहीं करती, कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अभी एक पेड़ मन को भा गया। चित्त प्रसन्न है, शायद इसी लिए पेड़ मन को भा गया। अथवा पेड़ सुन्दर है इसी से पेड़ मन को भा गया।'

मैंने कहा—'मैंने अनेक पेड़ देखे हैं। चित्र में अच्छा-सा पेड़ देख कर लगता है कि यह तो वही पेड़ है जिसे मैंने भी देखा था।'

पेड़ को लेकर अनेक बातें हुईं। वे बोले—'कवि के साथ कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष शब्द, उपमा अथवा विचार का मोह उस पर हावी हो जाता है। इसी तरह कलाकार के साथ भी होता है। अच्छा लगा। आंकते समय उसने फूस की एक झोपड़ी जोड़ दी, पत्ते भी आंके और आसमान के रंगीन बादलों की बहार भी दिखा दी--अर्थात् वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया। देखी हुई चीजों के साथ जोड़ी हुई चीजों का मेल न बैठा सकने के कारण चित्र नष्ट हो गया। कला में-लोभ इसी को कहते हैं, जिसका जन्म ठीक मात्रा-ज्ञान न होने के कारण होता है।'

इस के पश्चात नन्द बाबू ने चित्र में रंग भरने की बात उठाई। बोले--'चित्र में रंग भरने के सम्बन्ध में मेरा विचार है कि धान के खेत की हरियाली तुम्हें इतनी अच्छी लगनी चाहिए, मानो तुम उस हरियाली में डूब गये। तुम्हारी सत्ता के अन्तर्हीन परिचय के साथ यह तनिक-सा परिचय भी जुड़ गया। इसके बाद आंकते समय तुम किस तरह हरा रंग काम में लाओगे। किस रंग के साथ वह फबेगा, यह सब अन्तर के अनुभव से अपने आप ही तुम समझ जाओगे। तूलिका की नोक पर वह स्वयं ही आ जायगा। अवश्य ही इससे पहले प्रकृति को अच्छी तरह देखना चाहिए, उसकी नाड़ी पहचाननी चाहिए। इसी के साथ पुराने कलाकारों का कौशल भी समझ लेना चाहिए एक और भी बात है। देखो अलंकारश-प्रधान चित्र में कलाकार धान के खेत की हरियाली आकाश में भी दिखा सकता है, मेघ में भी और पहाड़ में भी। उससे कोई दोष नहीं होता। कारण, प्रकृति के सामीप्य से कलाकार रंग-रंग के सूक्ष्म सम्बन्ध को, गम्भीर आत्मीयता को सीख लेता है, अन्यथा वह स्वयं तो स्वाधीन-स्वतन्त्र है ही। यह पद्धति पुराने राजपूत मुगल अथवा पारसी चित्रों में मिलती है। इससे रचना में कोई कमी नहीं

आती। कुछ उत्कर्ष ही होता है।'

कला की परख के सम्बन्ध में नन्द बाबू की एक और शक्ति मुझे सदैव प्रेरणा देती रहेगी—'किसी ने कहा—नवीन जौ की वालियों के शीर्ष देखने से ऐसा लगता है, मानो कोई टूटे पंखों की तितली हो। किन्तु यथार्थ प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने कहा–वालियों के शीर्ष देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो पर होते ही वे तितली की तरह उड़ जातीं। एक ही उपमा है किन्तु देखने की भंगी और कहने के कौशल में कितना बे-हिसाब अन्तर है।'

कलाकार चाहे तो परम्परा को भी एक नये अर्थ से सम्पन्न कर सकता है। वल्कि यह कहना होगा कि उसे इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए।
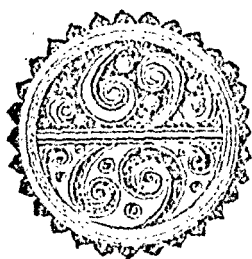
तिङ्-लिङ् और प्रेमचन्द

मेरे मित्र के हाथ में पटना से प्रकाशित 'उदयन' का अंक था। जिस पृष्ठ पर उसने दृष्टि जमा रखी थी, वहां लिखा था, '८ अक्तूबर १९३६, इसी दिन प्रेमचन्द हमें छोड़ गये थे।' उन्हों ने एक जगह कहा है, मैं साहित्य में केवल दिलवस्तगी, सिर्फ मनोरंजन नहीं चाहता। साहित्य चटनी नहीं है। वैसे निरी चटनी से आप पेट भी कैसे भर सकते हैं? साहित्य राष्ट्र में रक्त पैदा करने वाला अन्न है।' पत्रिका के अगले पृष्ठ पर एक कविता भी प्रकाशित हुई थी जिसमें स्वर्गीय प्रेमचन्द की स्मृति ही मुख्य विषय था।

मैं चाहता था कि प्रेमचन्द के साहित्य की चर्चा की जाय। पर हमारी चर्चा की गाड़ी दूसरी पटरी पर चल पड़ी। इस पत्रिका में प्रकाशित एक लेख था—तिङ्-लिङ् और जनता का साहित्य। मैंने कहा, 'मुझे चीनी नाम बड़े विचित्र प्रतीत होते हैं। लिन युतांग, जिनकी रचनाएं मैं अनेक वर्षों से पढ़ता आ रहा हूँ, अपने विचित्र नाम के कारण मुझे आज भी कुछ-कुछ अपरिचित से लगते हैं। लुहसुन का नाम भी मुझे अभी तक

खटकता है। और अब तिङ-लिङ की बात आ गई।'

यह बात मैं छिपाना नहीं चाहता कि तिङ-लिङ का नाम मेरे लिए एकदम नया है और मैं इतना भी तो न समझ सका कि यह किसी पुरुष का नाम है अथवा नारी का। अच्छा हुआ कि मेरा मित्र स्वयं ही कह उठा, 'राबर्ट मेइन ने इस लेख के शुरू ही में लिखा है--चीन पहुंचते ही तिङ-लिङ से मिलना चाहता था, कारण लुहसुन के बाद के सभी उपन्यासकारों में वही सर्वश्रेष्ठ लगती थीं।'

मुझे यों लगा कि मैं एक धर्मसंकट से बच गया। मन-ही-मन मैंने तिङ-लिङ को प्रणाम किया और कल्पना की तूलिका से उसका चित्र अंकित करने का यत्न करने लगा।

राबर्ट मेइन का लेख मुझे बहुत सुन्दर लगा। पता चला कि तिङलिङ की लम्बाई साढ़े चार फीट से ऊँची भरसक नहीं होगी पर वह बैठी हुई होती हैं तो बहुत ही लम्बी लगती हैं। युन्नान में तिङलिङ का जन्म हुआ था और अधिकांश युन्नानियों की भांति उसकी मुखाकृति भावलेश-हीन लगती है। हाँ, उसकी हँसी में एक खास तरह की मधुरिमा होती है। दबे स्वर से और नीचे गले से बातें करना ही उसे प्रिय है, जैसे चेहरे या हाथों की भंगिमा की कोई आवश्यकता न हो। नीला सूती कोट। नीला ही थैली-सा पाजामा। केवल हाथ, मुंह और गले की रेखाओं का ही अध्ययन किया जा सकता है। लगता है कि अपने अधिकांश उपन्यासों की नायिका वह स्वयं ही है। राबर्ट मेइन ने सफल चित्रकार की तरह ये सब रेखाएं कुछ इस प्रकार अंकित कर दी थीं कि मुझे तिङलिङ की आकृति बहुत-कुछ जानी-पहचानी-सी लगने लगी।

मैं फिर से प्रेमचन्द की चर्चा करना चाहता था। पर मेरे मित्र ने तिङलिङ की विचारधारा की ओर मेरा ध्यान खींचना

चाहा। अतः मैं सजग हो कर बैठ गया और मैंने फैसला कर लिया कि चलो आज का दिन चीन की इस नीले कोट और नीले पाजामे वाली लेखिका के लिए ही अर्पण कर दिया जाना चाहिए।

रावर्ट मेइन के सम्मुख अपने विचार प्रकट करते हुए तिङलिङ ने कहा था, 'हमें आज जनता के लिए लिखना लाज़िमी था और क्रान्ति के सिवा उस समय और किसी भी चीज़ का मूल्य न था...आज असल काम है आम जनता को पुस्तकों के पन्नों में भरना---उनकी वास्तविक रहन-सहन का संधान करना। वह क्या सोचती है, कैसे सोचती है, क्या काम करती है, आपस में कैसे प्रेम करती है, और सबसे ऊपर तो, कि वह कैसे लड़ती है, इस की खोज लेना, यह सब करना होगा वास्तविकता का दामन पकड़ कर, उसके पीछे दौड़ कर। कल्पना का आसरा पकड़ने से काम नहीं चलने का ! यह सब करना होगा सच्ची अनुभूति के बल पर, दूसरे को समझ-बूझकर जनता के चरित्र के अध्ययन के आधार पर। जब तक आप काफ़ी दिनों तक किसानों के साथ घुलमिल कर, उन्हीं के बीच एक बन कर रह नहीं लेते, तब तक आप किसानों के बारे में लिख नहीं सकते। और चूंकि चीन में किसान ही संख्या में अधिक हैं इसलिए उनके जीवन में सम्मिलित हुए बिना आप चीन के बारे में लिख नहीं सकते।'

मैं कहना चाहता था कि भारत में जो प्रेमचन्द कर गये, वही चीन में तिङलिङ कर रही है। अच्छा रहता कि थोड़ी-बहुत चर्चा प्रेमचन्द पर भी हो पाती। पर मेरे मित्र ने फिर से तिङलिङ की विचार-धारा की ओर संकेत करते हुए कहा, 'यहाँ से पढ़िए।'

तिङलिङ ने रावर्ट मेइन के सम्मुख अपने वक्तव्य में कहा

था, 'किसानों के बारे में जानने के लिए मेहनत करनी पड़ी है हम लोगों को, उनके बीच जाना पड़ा है, उनके दुःखों में साझी होना पड़ा है। उनकी समस्या का शंघाई की समस्या से कोई मेल नहीं। हैं तो वे और भी नरम धातु के बने, पर मत पूछिये कि कागज़ की छाती पर उन्हें उतार लेना स्याही के लिए कितना कठिन, कितना कष्ट-साध्य है।'

तिङलिङ की रचनाएं पढ़ने के लिए मेरा मन उत्सुक हो उठा। मैं देखना चाहता था कि उसने अपनी तूलिका द्वारा चीनी किसानों के कैसे चित्र प्रस्तुत किये हैं। अपने वक्तव्य में उसने इस पर प्रकाश डाला था, 'मेरी पहले युग की रचनाएं एक तरह की निरन्तर दुःख-गाथा थीं। कभी-कभार किसानों को ले कर जो लिखा था, उन रचनाओं को आज पढ़ने बैठती हूं तो समझ में आता है कि उन्हें कितना ग़लत समझा था। लुहसुन ने उनके दोषों, त्रुटियों और अशिक्षा की बात कही है, सामन्ती अनुशासन के नीचे उनकी निष्करुण दासता की बात कही है। उनके समय में यही कुछ था सचमुच, पर आज यह सत्य नहीं। किसानों को इतनी तेजी से होश आ रहा है कि विश्वास नहीं हो पाता। आज वे खूब अच्छी तरह जान गये हैं कि दुनिया में उनके भी अधिकार हैं, कर्त्तव्य हैं। आज पुरानी सामन्ती-शक्ति के सामने सिर झुकाकर यन्त्रणाएं भोगते जाना उन्हें स्वीकार नहीं। वे ऐसी पृथ्वी की रचना कर रहे हैं, जहां मनुष्य की तरह जिया जा सकता है। उन्होंने पढ़ना सीखा है, सीख रहे हैं, हर गाँव की अपनी अध्ययन-मण्डली है। वे लिखना सीख रहे हैं। जितना मुझ से पार लगा है, मैंने किसानों के बीच से तरुण लेखकों को खोज निकालने में समय लगाया है। संख्या में तो अधिक नहीं पा सकी हूँ, पर जिन्हें पाया है, वे गुणी हैं।'

तिङलिङ ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि पहले वह यौवन के दिनों में शंघाई की प्रेम कहानियाँ ही लिखती रही थी। उसकी पहुंच चीनी किताबों तक बिल्कुल नहीं हो पाई थी। अपने वक्तव्य में उसने यह भी कहा था कि शैली की खोज करते फिरना मुफ्त का सिरदर्द मोल लेना है, क्योंकि आज के लेखक को तो कुछ इस तरह लिखना चाहिए कि उसकी कृति आम-जनता का दर्पण बन जाय। वह पुरानी शैली को तोड़कर नई शैली की सृष्टि करना चाहती थी, पर इधर उसे इस बात का अनुभव होता चला गया कि शैली भी आम जनता ही जुटायेगी, उसी के छन्द और उसी की ध्वनि शैली की सृष्टि करेंगे।

तिङलिङ को इस बात को लेकर कि वर्तमान क्षण के लिए लिखी हुई रचना प्रचार कहलायेगी, हम बहुत देर तक विचार करते रहे। क्या सचमुच ऐसी रचना दीर्घस्थायी नहीं हो सकती? तिङलिङ के कथनानुसार इस रचना का एक निजी मूल्य होना चाहिए, क्योंकि उसका रचयिता यही क्षण है। एक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना समय को लेकर की जाती है, समय का एक-एक स्मृति-फलक वहां इकट्ठा करना होता है, हर-हर घड़ी, हर-हर क्षण का चित्र, आम जनता की वीरता, दुःख-कष्ट और शोषण-दमन के हर-हर पहलू के आलेख्य की आवश्यकता होती है।

किस प्रकार पुरातन चीनी 'गीत-संग्रह', जिस में ढाई हजार वर्ष के चीनी लोकगीत प्रस्तुत किये गये थे, पूरे का पूरा चीनी जनता के जीवित सम्पर्क की वस्तु नहीं रह पाया, किस प्रकार चीनी लोक-मानस की अनुभूति बदल गई है, जनता की अवस्था बदल गई है, यहां तक कि पुरानी परिभाषा को केवल पण्डित ही पढ़ सकते हैं, और किस प्रकार आज का चीन, अतीत के चीन से एकदम कट कर, एक नये 'गीत-संग्रह' की आवश्यकता

अनुभव कर रहा है—इस पर तिङलिङ के विचार हमें बेहद पसन्द आये। नये गीत-संग्रह के कार्य में संलग्न हो कर तिङलिङ ने देखा कि किसानों के गान असंस्कृत, सहजात मिट्टी से और हृदय से स्वतः वह निकले गान हैं—प्रेम के गान, मजदूरी के गान, पण्डितशाही और नौकरशाही को कोसने-सरापने के गान। अन्धे, बूढ़े कथाकार गवैये इन्हें गाते हैं। जो बात उनसे सीखी जा सकती है, वह किसी पुस्तक में पढ़ने को नहीं मिलती। हर ज़िले और हर प्रदेश में ये पेशेवर घुमक्कड़ गवैये मिलेंगे। इन के साथ 'पाइया'—गिटार की तरह चार तारों का बाजा, भी रहता है। दूसरे साज़ भी साथ चलते हैं, साथ-साथ बजाये जाते हैं। घुटनों के नीचे एक समतल-सी वस्तु बांध लेते हैं और उस पर अंगुलियां ठकठका कर पाइया के साथ ताल देते हैं या काँसे की खंजड़ी पर ही ताल देते हैं। गाते समय देह की भंगिमा या हिलना-डुलना आवश्यक नहीं होता। बस गवैया गान में मग्न हो जाय, और दीर्घ-विलम्बित गान, अतीत के किसी वीर या राजा-महाराजा की अन्तहीन गाथा, साम्राज्य का पतन या युद्ध-विग्रह, अथवा महामारी इत्यादि का रोमांचकारी वर्णन सुनने वालों के सम्मुख एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर दे, यह ज़रूर आवश्यक समझा जाता है। ये शत-शत गाथाएँ बार-बार सुनने पर भी सुनने वालों का मन नहीं ऊबता। इधर इन कथकों ने पुरातन गान के स्वरों में अनेक नई गाथाएं भी पिरो डाली हैं। उन्हें येनान में विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था और कितने ही शिक्षित चीनी युवक उनकी कला को सीखने में सफल हो गये। शेंसी प्रान्त में कहीं भी कोई-न-कोई कथक अवश्य मिल जायगा। वही काँसे की खंजड़ी, और वही चार तारों वाला 'पाइया'। आज ये कथक उन वीरों की गाथाएं भी गाते हैं, जिन्होंने सुरंगों के बीच लड़ाई की, जिन्होंने बारूद से

जापानियों को उड़ा दिया। गाँव-गाँव घूमनेवाले इन अन्धे कथक गायकों का गान सुनकर बड़े-बड़े चीनी साहित्यकारों के माथे झुक जाते हैं।

राबर्ट मेइन ने इस चीनी लेखिका का रेखा-चित्र प्रस्तुत करते हुए तूलिका के अन्तिम स्पर्श इस प्रकार दिये थे,—'बाद को कालगन में मैंने कितनी बार तिङलिङ को देखा है, चाहे तो राह छोड़ कर उतरी जा रही है इस नीयत से कि भारत अथवा जिन देशों में श्रेष्ठ सुन्दरियां जन्म लेती हैं, उन के बारे में तर्क-वितर्क करे या जिन मित्रों से लगभग दस वर्षों तक भेंट नहीं हुई, उन की खोज-खबर ले। पर आज भी उसके बारे में मेरे मन में यह धारणा रह गई है कि एक महिला ने अपना शेष जीवन किसानों के बीच काटना चाहा था, हो सकता है कि वह एक ऐसी अंधी कहानी-गायिका के रूप में अपने सम्बन्ध में कल्पना करती हो जिसका मन शेंसी के तम्बू-छाये पहाड़ों-पहाड़ों में भटक रहा है। मुझे तिङलिङ का यह चित्र बेहद पसन्द आया और मैं सोचने लगा कि किसी भी साहित्यकार का ऐसा ही चित्र होना चाहिए, क्योंकि 'स्वान्तः सुखाय' का नहीं, यह युग तो 'बहुजनहिताय' का है।

'बहुजनहिताय' की बात तो प्रेमचन्द को भी सदैव प्रिय रही, मैं अपने मित्र से कहना चाहता था। उस ने झट पत्रिका खोलकर नागार्जुन की 'प्रेमचन्द' शीर्षक कविता मेघ-गम्भीर स्वरों में पढ़नी शुरू कर दी—

> अब तक भी हम हैं अस्त-व्यस्त
> मुद्रित-मुख निगड़ित चरण-हस्त
> उठ उठ कर भीतर से कण्ठों में
> टकराता है हृदयोद्‌गार
> आरती न सकते हैं उतार

युग को मुखरित करने वाले शब्दों के अनुपम शिल्पकार !
हे प्रेमचन्द
यह भूख प्यास
सर्दी-गर्मी
अपमान-ग्लानि
नाना अभाव-अभियोगों से यह नोक-झोंक
यह नाराज़ी
यह भोलापन
यह अपने को ठगने देना
यह गरजू हो कर बांह बेच देना सस्ते...
हे अग्रज, इन से भली-भांति तुम परिचित थे
मालूम तुम्हें था हम कैसे थोड़े में मुर्झा जाते हैं
खिल जाते हैं थोड़े में ही
था पता तुम्हें, कितना दुर्वह होता अक्षम के लिये भार
हे अन्तर्यामी, हे कथाकार !
गोबर महगू बलचनमा औ' चतुरी चमार—
सब छीन ले रहे स्वाधिकार...
आगे बढ़ कर सब जूझ रहे
रहनुमा बन गये लाखों के
अपना त्रिशंकुपन छोड़ इन्हीं का साथ दे रहा मध्यवर्ग
तुम जला गये हो जो मशाल
बन गया आज वह ज्योति-स्तम्भ
कोने-कोने में बढ़ता ही जाता है किरनों का पसार
लो, देखो अपना चमत्कार !

मैंने अपने मित्र से कहा, 'इन दोनों चित्रों की रेखाएँ एक-दूसरे के बहुत समीप हैं। दोनों चित्रों का बहुत बड़ा महत्त्व है—बहुत बड़ा सन्देश !'

बनारसीदास चतुर्वेदी

जो स्वयं वैसाखी के सहारे चलने पर मजबूर हो, वह भला किसी को क्या सहारा देगा, यह बात जोर देकर कही जा सकती है। पर मुझे एक ऐसे व्यक्ति का स्मरण आ रहा है जिसने वैसाखी के सहारे चलने पर मजबूर होकर भी बनारसीदास चतुर्वेदी के लिए वैसाखी बनने से कभी संकोच नहीं किया था। मेरा संकेत स्व० व्रजमोहन वर्मा की ओर है। फेफड़े में अट्टहास के लिए गुंजाइश नहीं, फिर भी वह खूब कहकहे लगाते, उस समय उनकी आँखें चमक उठतीं। यह चमक सदैव किसी सूझ का पता देती। यही सूझ 'विशाल भारत' की वास्तविक शक्ति थी, जिसके सम्पादक थे बनारसीदास चतुर्वेदी और सहकारी सम्पादक थे व्रजमोहन वर्मा।

कोई और सम्पादक होता तो शायद कभी इतने खुले शब्दों में यह स्वीकार न करता कि उसके पत्र की सफलता का ७५ प्रतिशत श्रेय उसके सहकारी सम्पादक को मिलना चाहिए। पर बनारसीदास चतुर्वेदी ने सर्वप्रथम वर्मा से मेरा परिचय कराते हुए इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया था।

बल्कि उसके पश्चात् कई निजी पत्रों में भी उन्होंने यह बात दोहराई कि काम तो सब वर्मा करते हैं और श्रेय मिलता है चौबे को।

एक चित्र का स्पर्श करते ही दूसरा चित्र स्वयं सजग हो उठता है। चौबे और वर्मा से एक-साथ भेंट हुई थी। उन्हें इतना हँसमुख और स्नेहशील देखकर मैंने कहा, 'विशाल भारत' के लिए मैंने बहुत पहले से लिखा होता, यदि इसमें घासलेट साहित्य के विरुद्ध आंदोलन न शुरू किया गया होता। इससे मैंने महसूस किया कि 'विशाल-भारत' का सम्पादक तो कोई बहुत भयानक प्राणी है।'

वर्मा हँसकर बोले—'मैं तो भयानक नहीं हूं, चौबे भले ही भयानक हों।'

मैंने कहा, 'यदि केवल एक ही आदमी भयानक हो तो कोई मुकाबला भी कर सकता है, पर जब दो-दो आदमी एकसाथ भयानक हों तब तो पत्र के प्रति किसी भी लेखक के हृदय में इसके लिए लिखने की प्रवृत्ति नहीं जग सकती।'

इसके उत्तर में वर्मा हँसकर कह उठे, 'चौबेजी घासलेट-साहित्य के विरुद्ध होते हुए भी ग्राम-साहित्य में इसकी थोड़ी-बहुत इजाज़त अवश्य दे सकते हैं।'

'पर 'विशाल-भारत' में उसका प्रकाशन तो निषिद्ध ही रहेगा ना!' मैंने गम्भीर होकर कहा।

'नहीं तो', वर्मा ने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा।

मैंने देखा कि चौबे जिसे अपना कह देते हैं, फिर उसे पूरा सहयोग देने का आदर्श ही अपने सम्मुख रखते हैं। फिर भी आज जब 'विशाल-भारत' के साथ अपने सम्पर्क का लेखा-जोखा करने बैठता हूं तो यही कहने को मन होता है कि वर्मा न होते तो शायद चौबेजी के हृदय के तार इतने मधुर-स्वरों

में कभी झंकृत न हो उठते।

मुझे यह स्वीकार करने से इनकार नहीं कि मैंने चोर-द्वार से 'विशाल-भारत' के भीतर प्रवेश किया था। यदि मेरी लेखनी का विषय 'लोकगीत' न होकर कुछ और होता तो कदाचित् मैं न चौबे का आतिथ्य प्राप्त कर पाता, न वर्मा का। शुरू-शुरू में जब भी 'विशाल-भारत' में मेरा कोई लेख प्रकाशित हुआ, मुझे ऐसा प्रतीत होता कि चौबे और वर्मा ने एक-साथ मेरे भिक्षा-पात्र में दयापूर्वक एक-दो कौर अन्न डाल दिया है। हालांकि बहुत दिनों बाद चौबे ने 'विशाल-भारत' में एक लेख लिखा, जिसमें मेरे कार्य की कुछ इस प्रकार चर्चा की थी, जिससे पाठक भली-भांति समझ ले कि 'विशाल-भारत' ने एक लोकगीत-संग्रहकर्त्ता पर कोई अहसान नहीं किया, बल्कि इस लोकगीत-संग्रहकर्त्ता ने ही 'विशाल-भारत' पर उपकार किया है। फिर भी मेरा सिर घमण्ड से घूम नहीं गया था।

सन् १६३२ में चौबेजी से सर्वप्रथम भेंट हुई। दो वर्ष पश्चात् जब वे एक बार कलकत्ता में मुझे बापू से मिलाने ले गये तो मैंने समझा कि मेरा जीवन धन्य हो उठा और 'विशाल-भारत' में प्रकाशित मुझे मेरे लेखों का दोहरा पारिश्रमिक मिल गया। बैसाखी के सहारे चलने वाले वर्मा भी साथ थे। 'विशाल-भारत' दफ़्तर का पुराना चपरासी रामधन भी साथ था—जिसकी बातें सुनकर सदैव यह अनुभव होता कि विश्व-विद्यालय की टकसाल से निकले हुए सिक्कों के मुकाबले में कुछ अशिक्षित लोग भी इतने सुसंस्कृत हो सकते हैं कि बड़े-बड़े शिक्षित भी नतमस्तक हो जायँ।

हां, तो बापू की किसी बात की चर्चा करते हुए चौबे जी बोले—'बापू, मैं 'विशाल-भारत' में अनेक बार आपका विरोध

किया करता हूं !'

बापू ने झट पूछ लिया, 'पर बनारसीदास, तुम्हारा 'विशाल-भारत' कोई पढ़ता भी है ?'

वर्मा ने मेरे कान में कहा, 'अब चौबे कुछ उत्तर नहीं दे सकेंगे ! हमारे ऊपर उनका रोब जमा हुआ है ना। बापू पर तो उनका कोई रोब नहीं जम सकता।'

रामधन ने भी वर्मा की बात सुन ली थी। वह भी मेरे समीप होकर कह उठा, 'चौबेजी हरेक के सामने तो जोर से बात नहीं कर सकते।'

× × ×

सन् १९३८ में वर्मा बीमार हो गये और विशाल-भारत का कार्य अकेले चौबेजी के बस का रोग नहीं रह गया था। कुछ और कारणों से भी उनका मन कलकत्ता से ऊब गया था। अतः विशाल-भारत के सम्पादन का भार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन को सौंप कर चौबेजी टीकमगढ़ चले गये।

मैं उन दिनों कलकत्ता में था। कुछ महीनों के बाद चौबेजी कलकत्ते पधारे तो उन्होंने अचकन पहन रखी थी। पूरे रियासती मुसाहिब नज़र आ रहे थे।

मैंने उन्हें अपने यहां भोजन के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने इस शर्त्त पर आना स्वीकार किया कि मैं एक-न-एक दिन अपनी पत्नी के लिए सोने के कंगन अवश्य बनवा दूँ।

चौबेजी ने मेरी पत्नी के सम्मुख स्पष्ट-शब्दों में कहा था, "मैं अपनी देवी जी की सेवा नहीं कर पाया था। वह बेचारी प्रतीक्षा करते-करते चल बसी। यह बात मुझे अब तक खटकती है। इसीलिए मैं अपने मित्रों को कहता हूं कि वह काम करो जिससे पीछे आयु भर पछताना न पड़े।'

मैंने कहा, 'चौबेजी, अब आपकी बात समझ में आगई।

इसमें तो मेरा ही लाभ है। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अपनी देवीजो के लिए सोने के कंगन अवश्य बनवा लूंगा।'

इतने वर्ष बीत गये। अभी तक मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। सोचता हूं, दोबारा कभी अवसर मिलने पर कैसे चौबेजी को आमन्त्रित कर पाऊंगा।

चौबे जी ने टीकमगढ़ से 'मधुकर' का सम्पादन आरम्भ किया और इस प्रकार फिर से पत्र-कला की गद्दी विराजमान हुए। पर सच पूछो तो वे 'विशाल-भारत' का रंग नहीं जमा सके। यों 'मधुकर' की फाइलों में भी चौबेजी का व्यक्तित्व झलकता है।

आखिर टीकमगढ़ रियासत ही तो थी। हालांकि यहां के महाराज, जिन्हें हिन्दी-साहित्य से विशेष अनुराग है, चौबेजी के शिष्य होने के नाते कभी नहीं चाहते थे कि 'मधुकर' का प्रकाशन बन्द कर दिया जाय। पर एक दिन सवेरे की चाय पीते समय चौबेजी ने फैसला किया कि 'मधुकर' के प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं।

जहां तक लोकगीतों का सम्बन्ध है, चौबेजी ब्रज के गीतों को बुन्देलखण्ड के गीतों से कहीं अधिक सुन्दर मानते हैं। पर उसे कुछ समय का फेर ही कहना होगा कि चौबेजी का मन बुन्देलखण्ड में अटक गया है।

स्वतन्त्रता के आते ही देशी राज्यों में भी अनेक परिवर्त्तन हुए। बहुत दिनों से चौबेजी टीकमगढ़ छोड़ देने की बात पर विचार कर रहे थे। पर अब शायद वे वहीं रहने का निश्चय कर चुके हैं।

अच्छा होता कि वे बुन्देलखण्ड छोड़ कर फिर से 'विशाल-भारत' में आ जाते। इससे कदाचित् 'विशाल-भारत' में फिर से नया जीवन आ जाता।

सोचता हूं, उन ट्रंकों का क्या बना, जिनमें अनेक महा-पुरुषों के पत्र तथा अन्य सामग्री संग्रह करने का श्रेय चौबे जी को प्राप्त है। चौबेजी अनेक पुस्तकें लिखना चाहते हैं। कब लिखी जायगी उनकी प्रथम पुस्तक?—कौन भाग्यशाली प्रकाशक इसे प्रकाशित करेगा?

चौबेजी को कोई बन्धन नहीं सुहाता। कदाचित् जम कर लिखने का बन्धन भी उन्हें स्वीकार नहीं। इसीलिए न वे अब तक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी पर कोई पुस्तक लिख सके, न स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी पर।

यों चौबेजी के अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। कोई चाहे तो इनके सुन्दर संग्रह प्रस्तुत कर सकता है। मेरा मन खीझ उठता है। चौबेजी इस ओर से इतने उदासीन क्यों हैं।

जब वे 'विशाल भारत' छोड़कर टीकमगढ़ गये तो उन्हें फोटोग्राफ़ी का शौक लगा। इस दिशा में कुछ प्रोत्साहन उन्हें मुझ से भी मिला। थोड़े ही समय में वे अच्छी फोटो खींचने लगे। सोचता हूं अपने कैमरे के करिश्मों को भी उन्होंने ट्रन्क में भर दिया होगा। उस ट्रन्क को हवा लगेगी या नहीं?

कोई कैसे चौबेजी के कान में जाकर कहे—'क्या आप ही दस वर्ष तक 'विशाल-भारत' के सम्पादक थे? और क्या आज फिर 'विशाल-भारत' को आप जैसे सम्पादक की आवश्यकता नहीं?'

यात्री के संस्मरण

मैं यह बात मान कर चलता हूँ कि हर कोई यात्री नहीं बन सकता। जिस के कानों के पर्दे खुले हों और जिसे पथ की पुकार सुनाई दे सकती हो उसे ही यात्रा का ठीक-ठीक रस आ सकता है।

यात्री से कोई कहे कि एक रात के लिए यहीं रुक जाओ तो उसे रुक जाना चाहिए। आगे तो चलना ही होता है। आज नहीं तो कल सही। ऐसी भी क्या जल्दी है। अच्छा है यदि रुक कर किसी एक स्थान को एक बार, नहीं, दो बार बल्कि तीन बार देख लिया जाय।

यात्री का गीत भी तो अन्य व्यक्तियों के गीत से भिन्न होता है। रात्रि के अन्धकार में जैसे आकाश के किसी सुदूर कोने में कोई तारा चमक उठता है, ऐसे ही यात्री का गीत भी उसका पथ-प्रदर्शन करता है।

एक के पश्चात् दूसरी, फिर तीसरी, चौथी, पाँचवीं—एक यात्रा पर जाने कितनी यात्राओं की तहें चढ़ती चली जाती हैं। मजा तो जब है कि प्रत्येक तह की एक-एक बात याद रहे।

जब पहाड़ी प्रदेश में पहली बार बादाम के पुष्प खिलते हैं,

कन्याएं रतजगा करती हैं और इस प्रकार खुले हृदयों के साथ वसन्त का स्वागत करती हैं। पर वसन्त तो प्रतिवर्ष आता है। प्रत्येक वसन्त की बात याद रहे, मजा जब है। यही दृष्टिकोण यात्री का होना चाहिए। उसकी स्मृति में यदि प्राण नहीं तो उसकी यात्रा भी व्यर्थ है।

एक स्वर से गीत की रचना असम्भव है। इसके लिए एक से अधिक स्वर आवश्यक हैं। हां, एक बात नितान्त सत्य है। एक स्वर से पूरे गीत का निर्माण नहीं होता, पर कोई एक स्वर पूरे गीत का नाश अवश्य कर सकता है। यही दृष्टिकोण यात्री का भी होना चाहिए। अपने स्थान पर प्रत्येक स्वर का महत्त्व है। प्रत्येक रंग भी अपने स्थान पर शोभा को बढ़ाता है। एक से अधिक रेखाओं से काम लेना होगा। एक से अधिक रंगों को तूलिका की नोक पर थिरक उठने दो। प्रत्येक यात्रा का अपना रंग होता है। पिछली यात्रा का रंग अब की यात्रा के रंग के नीचे दबने न पाये, यह ध्यान रहे। पिछली यात्रा की रेखाएं भी आवश्यक थीं, पर अब की यात्रा की रेखाएं भी कुछ कम आवश्यक नहीं।

अभी मां का हृदय वात्सल्य से उमड़ आया। साथ ही शिशु के लिए उसके वक्षस्थल में दूध का झरना भी फूट निकला। यह कैसी स्नेह-गाथा गाई जा रही है लोरी के स्वरों में? यह लोरी थमने न पाये। यह यात्रा भी थमने न पाये।

यात्रा से रक्त में नवीन जीवन तो आता ही है, प्राणों में एक नई स्फूर्त्ति भी आती है, यात्री के सम्मुख धरती अपना हृदय खोल देती है।

अपनी यात्राओं में मैं अनेक प्रकार के व्यक्तियों से मिला। उन में बहुसंख्या ऐसे व्यक्तियों की है जो विख्यात नहीं हैं। ऐसे ही एक सज्जन ने अभी उस रोज़ एक गान छेड़ दिया था—

ई मटकी मां सोया कोदों
ई मटकी मां मडुआ
अपन अपन टिकुरि सम्हार मेहररुआ
बाज़रिया मां आइलवा चोर !

यह गान मुझे बहुत सुन्दर लगा। इसका सौंदर्य-बोध मेरे लिए अपार आनन्द की बात कह गया। ये लोग जो सोया, कोदों और मडुआ खा कर रह जाते हैं, उनके यहां भी सौंदर्य खिलता है। और जब सौंदर्य और यौवन का मेल होता है, और उस पर भी गांव की युवा-वधुएं माथे पर टिकुरी का शृंगार करती हैं तो एक नया ही प्रेरणामय दृश्य उपस्थित हो जाता है। ऐसे में जाने यह चितचोर कहां से इस बाजार में आ निकला ! कवि प्रत्येक रमणी से कहता है, अपनी-अपनी टिकुरी सम्भाल लो, यह चोर जाने किस-किस की टिकुरी उतारने का कारण बने। जिसने यह गान सुनाया, उसका नाम मुझे याद रखना चाहिए। किसी और यात्री का ऐसे ही किसी रसिक से परिचय हो तो उसे भी उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। समय का चक्का तो घूम रहा है। थोड़ा रुक जाय, तो मैं इस युवक का पूरा रेखा-चित्र ही प्रस्तुत कर सकता हूँ। सोचता हूं, क्या रुक्मणि अरण्डेल का रेखा-चित्र इस अज्ञात युवक के रेखा-चित्र से अधिक मनोरंजक होगा। श्रीमती अरण्डेल ने भारत नाट्य में 'नये प्राणों' का संचार किया है। क्यों न एक साथ दो रेखा-चित्र प्रस्तुत कर दिये जांय। मुकाबले की बात ही में क्यों उलझ कर रह जाऊँ ?

प्रसिद्ध चित्रकार देवीप्रसाद राय चौधरी उमर खैयाम के रंग में बैठे थे। यह आर्टस्कूल की प्रदर्शिनी का अन्तिम दिन था। प्रदर्शिनी के समय अन्तिम दो घन्टे शेष रह गये थे। मुझे देखते ही उन्होंने शान्तिनिकेतन पर व्यंग्य कसने शुरू किये।

यह उनकी आदत है। इतने में कुछ महिलाओं ने प्रवेश किया—चित्रकार ने उन्हें कनखियों से देखा और मुझ से कहा, 'घुमक्कड़ महोदय, तनिक उधर घूम जाओ। आखिर मैं कब तक इस घनी दाढ़ी पर जी सकता हूं। उस सुन्दर दृश्य से यह दाढ़ी मुझे वंचित क्यों रखे!' इसे केवल एक चुटकुला मत समझिए। यात्री के दृष्टिकोण से इसी पर पूरा निबन्ध लिखा जा सकता है। पर यात्री का ध्यान भी तो घूम रहा है।

हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय से दक्षिण की यात्रा में भेंट हुई। पहले केवल उनकी कविताएं पढ़ने को ही मिली थीं। इधर साक्षात कवि के दर्शन हुए। उन्होंने मुझसे अनेक प्रश्न पूछे। दिन के समय उनका रूप और था, रात्रि को और। जब वे रंगमंच पर कवि और अभिनेता के रूप में उपस्थित हुए, इस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर यहां इस के लिए अवकाश कहाँ? लाहौर में उन से दोबारा भेंट हुई थी। फिर तीसरी बार दिल्ली में भेंट हुई, जब रेडियो स्टेशन के समीप वे कार रोक कर फुटपाथ पार आ गये और उन्होंने मुझे अपनी बाँहों में भींच लिया।

मदरास में एक ओर ब्रजनन्दन शर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त और प्रेमनाथ शांडिल्य से भेंट हुई। एक ग्रुप-फोटो का प्रबन्ध किया। इन तीनों हिन्दी-प्रेमी मित्रों को सन्देह था कि मुझे उन के नाम भूल जायँगे। अब मैं कैसे उन्हें विश्वास दिलाऊँ कि मेरे मन के कलाजीवन में उनके चित्र भी सुरक्षित हैं और उनके नाम भी।

मदरास नगरी में ही जगन्नाथन (सम्पादक, प्रसिद्ध तामिल पत्रिका 'कलामहल') और का० श्री० श्रीनिवासाचार्य से भेंट हुई। जगन्नाथन ने प्रतिज्ञा की कि तामिल लोकवार्त्ता पर एक पुस्तक लिखेंगे। पिछले दिनों उन्होंने यह प्रतिज्ञा पूरी करते हुए अपनी सत्यप्रियता का प्रमाण दिया। का० श्री०

श्रीनिवासाचार्य ने तामिल लोकगीतों के अनुवाद के कठिन कार्य में मेरा हाथ बटाया। मैं उन के यहां जाता तो चाय या काफ़ी तो मिलती ही, साथ ही कुछ-न-कुछ पकवान भी। सोचता कि इस आतिथ्य का उत्तर देने का सुअवसर कब प्राप्त होगा। फिर जब हम डट कर अनुवाद-कार्य पर जम जाते, कहीं आधी रात के बाद तक यह कार्यक्रम जारी रहता। किस बही में उसका लेखा-जोखा रखा गया होगा!

ऐसे अनेक चित्र यात्री के संस्मरणों को जाग्रत बनाये रहते हैं। ऐसा ही एक चित्र विलियम जी० आर्चर का समझिए। आर्चर महोदय अनेक वर्षों तक दुमका (सन्थाल परगना) में डिप्टीकमिशनर रहे। उनसे पत्र-व्यवहार द्वारा मेरा परिचय था। आदिवासियों की लोक-कविता और कला के इस अनन्य पारखी के लिए मेरे हृदय में अगाध-प्रेम था। एक दिन मित्रवर वासुदेवशरण अग्रवाल से पता चला कि आर्चर दिल्ली में हैं और तीसरे पहर तक सेंट्रल एशियन एंटिक्विटी म्यूज़ियम में आयेंगे। मैं अचानक वहां पहुंचा और अग्रवाल ने मेरी ओर संकेत करते हुए मेरा नाम लिया। बस क्या था। आर्चर ने मुझे अपनी भुजाओं के पाश में बाँध लिया। सचमुच वह दृश्य देखने योग्य था। कोई फोटोग्राफर तो था नहीं कि चित्र को सदैव के लिए सुरक्षित कर देता। चित्र लेने की व्यवस्था अगले दिन की जा सकी। आर्चर का उक्त हास दो अन्तर्राष्ट्रीय मित्रों के लिए बड़े गर्व की वस्तु है।

जिनसे मानवता की मंगल-कामना अग्रसर हो, ऐसे चित्र सद्वृत्तियों की विजय-यात्रा के प्रतीक होते हैं। यात्री के संस्मरणों में ऐसे ही चित्रों के लिए स्थान होना चाहिए।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का एक चित्र
(नन्दलाल वसु द्वारा पुनः अंकित)
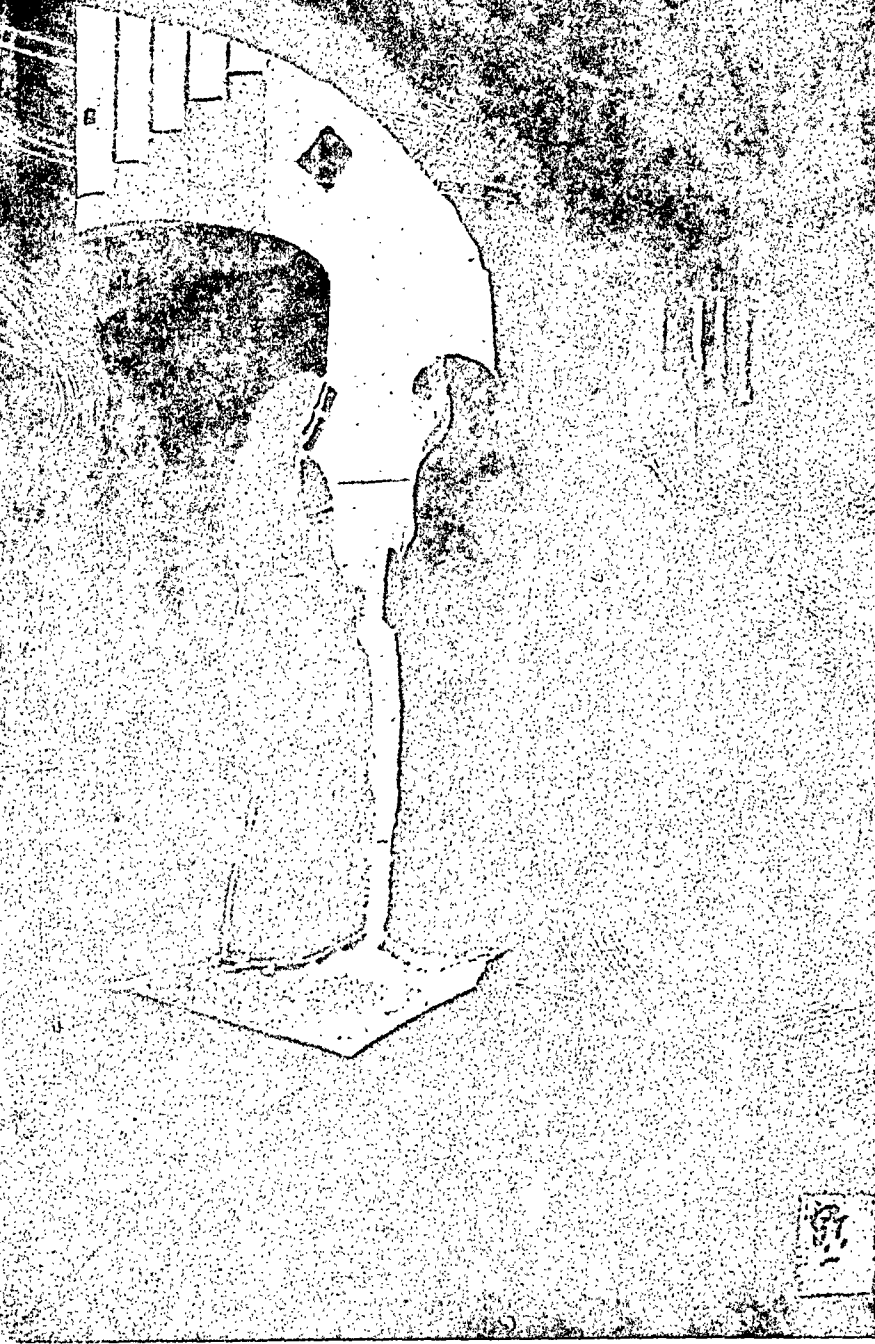
सीढ़ियों में भेंट
चित्रकार : गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

नन्दलाल वसु के साथ

एकतारा
चित्रकार : नन्दलाल वसु

रामानन्द चट्टोपाध्याय

देवीप्रसाद राय चौधरी के साथ

बनारसीदास चतुर्वेदी
के साथ

काश्मीर सौंदर्य का
रसास्वादन करते हुए
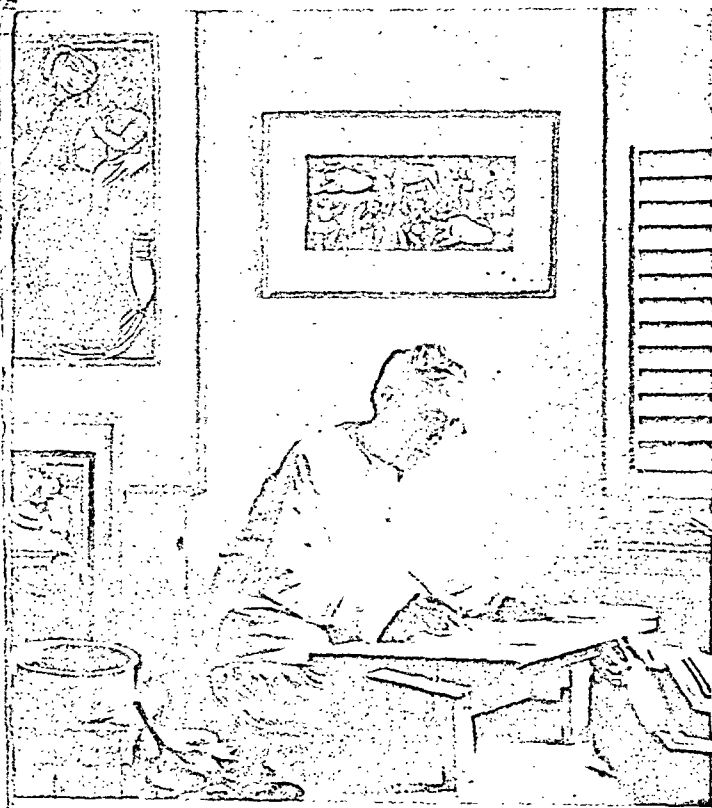
यामिनीराय
चित्रशाला में

सन्थाल नृत्य
चित्रकार : यामिनीराय
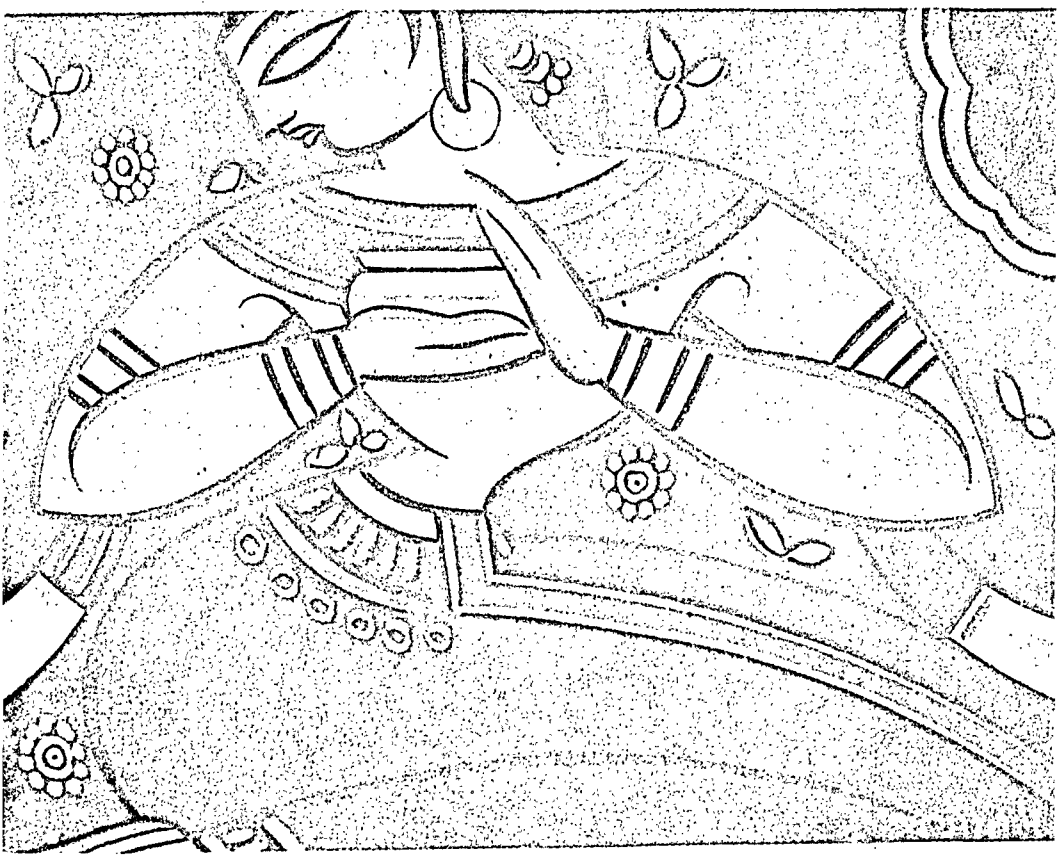
गोपिनी

चित्रकार : यामिनीराय

चित्रित घड़ा

चित्रकार : यामिनीराय

अमृत शेरगिल

गाथाकार
चित्रकार : अमृत शेरगिल
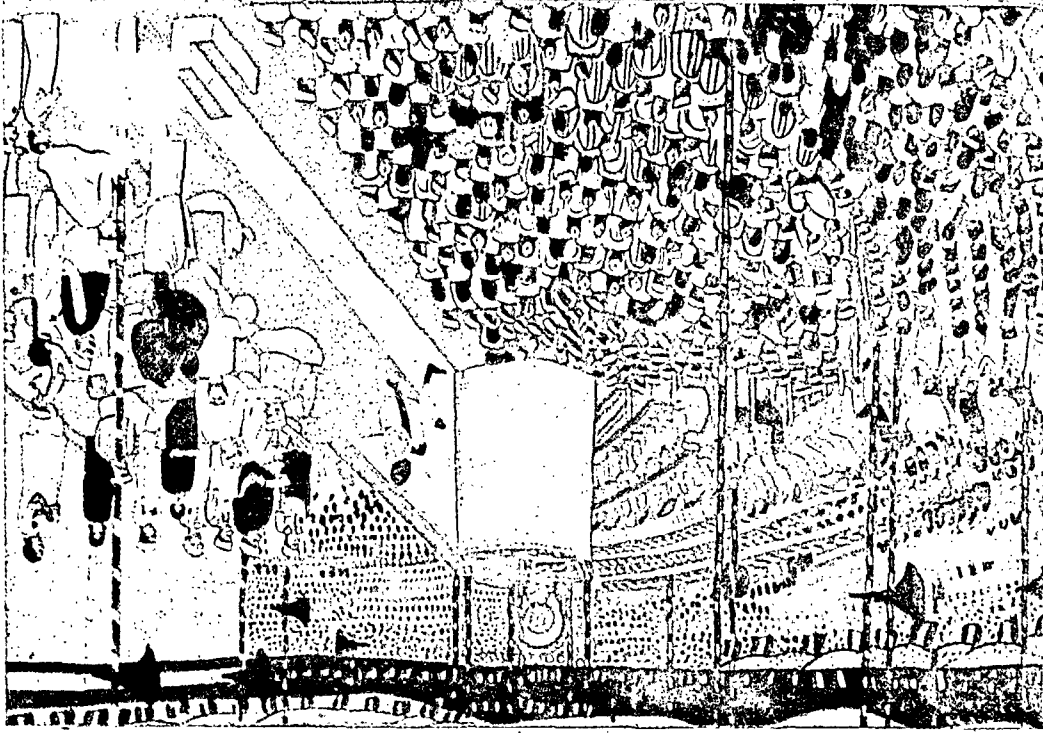
बम्बई में सन् १९४२ की प्रसिद्ध
कांग्रेस महासमिति की बैठक
चित्रकार : सुरैया

बायें—रुकमणी अरण्डेल

काश्मीर की यात्रा में

आल इण्डिया रेडियो दिल्ली में राष्ट्रपिता का प्रथम आगमन